भारत-जीवन-ज्योति

अत्तरचन्द कपूर ऐण्ड सन्ज़
देहली अम्बाला आगरा

भारत-जीवन-ज्योति

अत्तरचन्द कपूर ऐण्ड सन्ज़
देहली अम्बाला आगरा

5th Edition 3000 Price 1-14-0
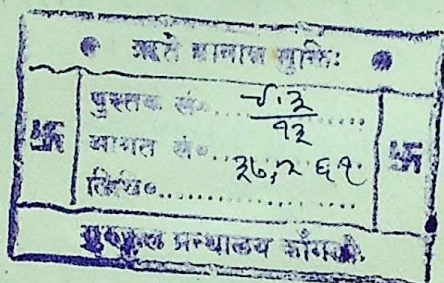
Printed by
L. Guran Ditta Kapur at Kapur Printing Press, Delhi
and Published by Shree Ram Jawaya Kapur,
Proprietor, Uttar Chand Kapur & Sons, Delhi.

दो-शब्द

भारत में पहले पहल न जाने जीवन-ज्योति कब जली थी, परन्तु जब से इतिहास और साहित्य की साक्षी मिलती है, यह निरंतर जलती चली आई है। प्राचीन काल में, भारतीय इतिहास के स्वर्ण-युग में, तो इस ज्योति की उज्ज्वल और प्रखर आभा ने न केवल इस देश को प्रत्युत अन्य देशों को भी आलोकित किया ही था, परन्तु पराधीनता की शताब्दियों में भी यह ज्योति बुझ नहीं गई। कभी यह ज्योति राजस्थान की वीरता के रूप में प्रकट हुई तो कभी मराठों के स्वतंत्र-राज्य-स्थाप के रूप में। कभी यह ज्योति सिखों के क्षात्रधर्म तथा भक्ति-भाव के अद्भुत समन्वय के रूप में चमकी तो कभी सन् सत्तावन के स्वतंत्रता-युद्ध के रूप में। आधुनिक काल से पहले भारतीय पराधीनता के विरुद्ध किए गए राष्ट्रीय प्रयत्नों के ये चार प्रधान रूप हैं। इन राष्ट्रीय आंदोलनों

के प्रतिनिधियों, महाराणा प्रताप, छत्रपति शिवाजी, गुरु गोविंद सिंह और महारानी लक्ष्मीबाई की जीवनियों में इसी जीवन ज्योति की झलक दिखाई गई है। किसी पुराने महापुरुष के जीवन को समझने के लिए उसके समय के इतिहास को समझना आवश्यक होता है। अतः इन जीवनियों को ऐतिहासिक पृष्ठ-भूमि के साथ अंकित किया गया है। अपने इतिहास के उज्ज्वल स्थलों के प्रति श्रद्धा और गर्व के भाव उत्पन्न करने के उद्देश्य को सामने रखते हुए भी ऐतिहासिक सत्य को नहीं छोड़ा गया है।

आधुनिक काल में वही जीवन-ज्योति एक सर्वतोमुखी पुनरुत्थान के रूप में प्रकट हुई। आरम्भ में यह रूप आध्यात्मिक, सांस्कृतिक और धार्मिक था। स्वामी विवेकानन्द को भारतीय जागरण के इस रूप का प्रतीक मान कर प्रस्तुत किया गया है। तत्पश्चात् यह जागरण राजनीतिक रूप धारण कर गया। लाला लाजपतराय यहाँ इस रूप के प्रतिनिधि हैं। आधुनिक काल में भारत में एक अपूर्व साहित्यिक विकास दृष्टिगोचर होता है। कवि-सम्राट् रवींद्रनाथ टैगोर से बढ़ कर कौन इस साहित्य-प्रगति का प्रतिनिधित्व कर सकता है। अध्यात्म-वाद, साहित्य-और कला तो प्राचीन काल से भारत के क्षेत्र रहे हैं परन्तु आधुनिक काल में भारत ने विज्ञान जैसे क्षेत्रों पर भी अधिकार जमाना आरंभ कर दिया है। सर जगदीश चन्द्र बोस का जीवन इस का उदाहरण है। भारत कोकिला श्रीमती सरोजिनी नायडू आधुनिक भारत में स्त्री-शक्ति के जागरण की प्रतिनिधि

है। प्राचीन भारत की इस जीवन-ज्योति का जो रूप गांधी जी में, आविर्भूत हुआ उस से तो संसार मानो चुन्धिया गया। भारत में बच्चे से बूढ़े तक कौन है जो भारतीय ज्योति के इस रूप से थोड़ा बहुत परिचित न होगा, गांधी जी की साधारण जीवनी से अनभिज्ञ होगा? विस्तृत जीवनी के लिए यहाँ स्थान नहीं। देखें यह भारत-जीवन-ज्योति आगे चल कर किस २ रूप में प्रकट होती है और संसार में प्रकाश का प्रसार करती है।

शैली को विशद और भाषा को प्रवाह-युक्त रखने का प्रयत्न किया गया है। आशा है कि इस पुस्तक के अध्ययन से सामान्य-ज्ञान की प्राप्ति के अतिरिक्त पाठकों में राष्ट्रीय भावना की जागृति होगी और इन तथा दूसरे भारतीय महापुरुषों के विस्तृत जीवन चरित्र पढ़ने की रुचि उत्पन्न होगी।

११. ६. ४६.

लेखक

विषय-सूची

महाराणा प्रताप

इतिहास के आरम्भ से लेकर न जाने कितने दीर्घ-काल तक, कितनी शताब्दियों तक, स्वतन्त्रता को अनुभव करके, उन्नत-मस्तक रह कर, अंततः ऋषियों की भूमि, भारतवर्ष में स्वतन्त्रता का युग आरम्भ हुआ। यद्यपि पहले भी भारत के पश्चिमोत्तरीय देशों से इस देश पर आक्रमण होते रहे तथापि भारत की स्वाधीनता सुरक्षित और अक्षुण्ण रही, क्योंकि इस देश में ऐसी शक्ति थी कि जो भी बाहर से यहां आया, वह या तो पराजित होकर और पांव न जमते देख कर लौट गया और या इसी देश का हो गया, इसी देश की जनता में अपने अस्तित्व को खो कर, इसी राष्ट्र का अंग बन कर, भारतवर्ष ही को अपनी मातृ-भूमि और पुण्यभूमि समझने लगा। जब तक भारतवर्ष में कोई शक्तिशाली केंद्रीय राजसत्ता रही, बाहर के आक्रमणकारी मुंह की खाते रहे जब तक देश का सामाजिक-शरीर सबल रहा, बाहिर से आने वाले भी उसी के बल को बढ़ाने के कारण बने। परन्तु इतिहास के अध्ययन से हम देखते हैं कि सम्राट् हर्षवर्धन के पश्चात् भारतवर्ष में कोई शक्तिशाली राजसत्ता न रह कर देश बहुत से छोटे २ राज्यों में विभक्त हो गया था। ये राज्य अपनी शक्तियों को एक दूसरे को दुर्बल करने के लिए व्यय करते थे। देश में पुरानी राष्ट्र-भावना ओत प्रोत नहीं रह गई

थी। न ही समाज में पहली पाचन-शक्ति रही थी। ऐसे समय में इस्लाम, जो अरब देश में एक धार्मिक आंदोलन के रूप में उत्पन्न हुआ था, एक राजनीतिक सत्ता बन कर, संसार के अनेक देशों में फैल गया था। साम्राज्यवाद की एक धारा अरब मरुस्थल से निकल कर देश-देशांतरों को आप्लावित करने लगी थी। उस बाढ़ की लहरें भारत की पश्चिमोत्तरीय सीमाओं से टकराने लगी थीं। अंततः मुसलमानों के आक्रमण भारत पर भी होने लगे।

यद्यपि भारत में उस समय कोई केंद्रीय राजशक्ति न थी, तथापि भिन्न २ स्थानों के शासकों ने आक्रमणकारियों का प्रतिरोध करने का प्रयत्न किया। परन्तु जब घर ही आपस में फटा हो, जब भाई भाई के मार्ग पृथक् हों, जब पारस्परिक ईर्ष्या और वैमनस्य का चलन हो, तो एक संघटित, धर्ममदांध, शत्रु को कैसे रोका जा सकता है? इस्लामी राज्य देहली में स्थापित हो गया और देश में चारों ओर विस्तृत होने लगा। पराधीनता युग के उस आदिकाल में इस्लामी शक्ति के उस प्रसार के समय हमें भारतीय स्वतन्त्र आत्मा की झलक यदि कहीं सब से अधिक दीख पड़ती है तो राजस्थान में। एक २ राज्य अपनी वीरता के चमत्कार दिखाता हुआ समाप्त होता है। परन्तु राजस्थान की इस वीरप्रसू भूमि में चित्तौड़गढ़ ने सब को मात कर दिया।

कौन सा भारतीय नर नारी है, भारतीय बाल वृद्ध है, जिस के हृदय में चित्तौड़ का नाममात्र सुनने से एक बार वीररक्त

संचार नहीं हो जाता, जिस के हृदय में भारतीय वीरता के प्रतीक इस गढ़ को एक बार देखने की अभिलाषा जागृत नहीं होती? भारतीय पराधीनता के चारों ओर ठाठें मार रहे समुद्र में चित्तौड़ ही एक ऊंची और सुदृढ़ चट्टान के समान बहुत देर तक सिर उठाए, जलनिमग्न होने से बचा रहा। आज चित्तौड़गढ़ को देख कर कैसी २ स्मृतियां जागृत होती हैं, कैसे २ भाव परिस्फुटित होते हैं! कौन सा कवि है जो इन भग्नावशेषों का यशोगान करके अपनी प्रतिभा को सार्थक करना नहीं चाहता? यह वही चित्तौड़गढ़ है जहां अलाउद्दीन-खिल्जी ने, विजय प्राप्त करने के पश्चात्, अपने नेत्रों द्वारा पद्मिनी के रूप-सौंदर्य का पान करने की उत्सुकता से, दुर्ग में प्रवेश करके, उस स्त्रीरत्न के सम्बन्ध में पूछे गए अपने प्रश्न के उत्तर में एक दासी से उड़ाई गई मुट्ठी भर भस्म में, भारतीय नारी के सतीत्वादर्श की आभा देखी थी। हां, यह वही चित्तौड़गढ़ है जहां कितनी ही सुन्दरताएं जल बुझीं और कितनी ही वीरताएं रक्त-रंजित हुईं। इसी चित्तौड़गढ़ के साथ हमारे इस लेख के नायक महाराणा प्रताप का सम्बन्ध है।

न जाने कब से चित्तौड़ मेवाड़ की राजधानी था। यहां सीसोदिया वंश के राजपूत राज्य करते थे, जो अपनी वंश-परम्परा को रामायण के नायक श्री राम के पुत्र कुश से मिलाते हैं। सीसोदिया वंश में कभी बाप्पा रावल और राणा कुम्भा हुए थे जिन की वीरता के गान राजस्थान के लोकगीत हैं। इसी

सीसोदिया वंश में महाराणा संग्राम सिंह अथवा राणा सांगा ने राजपूतों की बिखरी हुई शक्ति को बहुत कुछ केंद्रित कर लिया था। उसने भीलसा सारंगपुर, चंदेरी और रणथम्बोर को जीत लिया था। राजस्थान के सात राजाओं और एक सौ चार सरदारों ने उसे अपना नेता मान लिया था। भारत की वीरता और राष्ट्रीयता जागृत हो कर राणा सांगा के नेतृत्व में पराधीनता को उखाड़ फैंकने के लिये उद्यत हुई थी। देश को नेता भी मिला था राणा सांगा जैसा, जिस की वीरता का इस से अधिक क्या प्रमाण हो सकता है कि भिन्न २ संग्रामों में उस की एक टांग कट चुकी थी, एक भुजा कट चुकी थी, एक आंख जाती रही थी और शरीर पर अस्सी घावों के चिह्न थे। राणा सांगा की शक्ति को देख कर और लोदी वंश की दुर्बलता का अनुमान करके भारत की पराधीनता के समाप्त होने की आशा हो रही थी, परन्तु बाबर के आक्रमण ने पासा पलट दिया। यद्यपि बाबर ने लोदी वंश के राज्य को नष्ट कर दिया तथापि उस ने भारत की पराधीनता के समय को और लम्बा कर दिया। राणा सांगा ने आगरे के पास बाबर के साथ लोहा लिया और मुग़ल आक्रमणकारी की विजय की बहुत कम आशा थी परन्तु अभी देर तक भारत में विदेशी राज्य ने रहना था। इसी राणा सांगा का पोता महाराणा प्रताप था।

राणा सांगा के पश्चात् उदयसिंह गद्दी पर बैठा परन्तु उस में वे गुण न थे जो राणा सांगा में थे और फिर महाराणा प्रताप

में उदित हुए। राणा प्रताप कहा करता था कि "यदि उदयसिंह न होता और यदि राणा सांगा के और स्वयं उस के बीच कोई अन्य मेवाड़शासक न होता तो मुसलमानों का शासन राजस्थान में स्थापित न होता"। उदयसिंह के राज्यकाल में अकबर ने चित्तौड़ पर चढ़ाई की थी परन्तु उदय सिंह दुर्ग को अपने सेनापति जयमल को सौंप कर स्वयं अरवली पर्वत में चला गया था। जिस वीरता से जयमल और फत्ता ने दुर्ग की रक्षा का प्रयत्न किया और अकबर का प्रतिरोध किया उस का वर्णन करके आज भी भाट लोग राजस्थान की जनता में उत्तेजना और साहस का संचार करते हैं। परन्तु चित्तौड़ पराजित हो गया और राजस्थान का जीवन-केन्द्र मुगलों के अधीन हो गया। उदय सिंह ने पर्वतीय प्रदेश में झील उदयसागर के तट पर उदयपुर नाम का नगर बसाया और उसे अपनी राजधानी बनाया।

चित्तौड़-पराजय के कुछ ही बरस पश्चात् उदयसिंह की मृत्यु हो गई। उदयसिंह को अपनी छोटी रानी से बहुत प्रेम था और उस ने मरते समय उसी के पुत्र जगमल को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया, परन्तु एक तो इस दृष्टि से कि प्रताप ज्येष्ठ संतान होने से कुलमर्यादानुसार राज्य का अधिकारी था और दूसरे इसलिए कि वही शौर्य आदि राजपूतोचित गुणों में अधिक योग्य था, सरदारों ने उदयसिंह की नियुक्ति को स्वीकृत न कर के प्रताप को सिंहासन देने का प्रस्ताव किया। प्रताप ने पहले तो पिता की आज्ञा और इच्छा को शिरोधार्य समझ कर

सौतेले भाई जगमल ही को राज्य दिए जाने का अनुरोध किया, परन्तु जब उसे समझाया गया कि यदि किसी समय उसके पूर्वज रघुवंशावतंस राम का पिता की आज्ञा का पालन धर्म था तो उस समय देश की उन परिस्थितियों में, मुग़ल शक्ति से टक्कर लेने के समय, पिता की इच्छा का उल्लंघन कर के भी, उस का राज्य ग्रहण करना, जो राज्य उस का अधिकार था, उस का धर्म ही था, प्रताप ने राज्य को स्वीकृत कर लिया।

प्रताप के राजत्व-काल के आरम्भ ही में एक दुर्घटना हो गई।। प्रताप को वनविहार तथा आखेट में बहुत रुचि थी। एक दिन ऐसे ही वन्य पशुओं के पीछे प्रताप और उसके साथी बहुत दूर निकल गए। प्रताप का भाई शक्ति सिंह भी साथ था। एक जंगली शूकर पर दोनों ने तीर चलाए और किसी एक के तीर से आहत हो कर शूकर गिर पड़ा। अब दोनों में इस बात पर झगड़ा हो गया कि वह पशु किस के तीर से मरा है। बात साधारण थी परन्तु देश के दुर्भाग्यवश बढ़ गई और यहां तक बढ़ी कि दोनों भाइयों ने एक दूसरे के प्राण लेने के लिये तलवारें खोल लीं। साथियों का समझाना बुझाना काम न आया। कुल-पुरोहित ने जब यह देखा कि कलह-शांति का दूसरा कोई उपाय नहीं है तो उसने दोनों के सामने अपनी छाती में छुरा घोंप लिया। राजरक्षा के लिए उस ब्रह्मरक्त को देख दोनों राजकुमारों ने तलवारें मियानों में डाल लीं। तथापि प्रताप ने शक्तिसिंह को क्षमा न करके उसे देश-निर्वासन का दंड दे दिया

और शक्तिसिंह भी अपने क्रोध को हृदय में दबाए चला गया और जाकर अकबर की सेना में सम्मिलित हो गया। एक भाई जगमल पहले ही से राज्य न पा सकने के कारण रुष्ट था।

कुछ राजपूत राजाओं को तो अकबर अथवा उस से पहले मुग़ल सम्राटों ने अपनी शक्ति से विजित कर लिया था और कुछ को अकबर की नीति ने आत्मसात् कर लिया। कई राजपूत राजाओं ने विवाह में अपनी बेटियां देकर मुग़ल-सत्ता के साथ सम्बन्ध स्थापित कर लिया। इन राजाओं में एक अम्बर का राजा बिहारीमल था जिसने अपनी कन्या का विवाह अकबर के साथ कर दिया। अम्बर का राजकुमार, राजा मानसिंह अकबर का विश्वस्त दरबारी तथा सेनापत्ति था और उसने मुग़ल राज्य की वृद्धि के लिये बहुत कार्य किया। राजपूतों में अब सिसोदिया वंश ही था जिसने अपनी राजधानी और राज्य का बहुत सा भाग खो कर भी मुग़लसम्राट् की वश्यता स्वीकृत नहीं की थी। अन्य राजपूत राजाओं के हृदयों में छुपे २ अपनी दुर्बलता के प्रति ग्लानि और सिसोदिया वंश के प्रति श्रद्धा के भाव रहते हुए भी वे महाराणा प्रताप के शत्रु थे और उसे भी अपने समान पराजित और नतमस्तक देखा चाहते थे। अपने आप को महाराणा प्रताप के समान स्वतन्त्र रखने की शक्ति न रखते हुए वे उसे भी परतंत्र देखने को उत्सुक थे। प्रताप यह सब कुछ समझता था। वास्तव में यही पारस्परिक ईर्ष्या, द्वेष वीर और साहसी राजपूत जाति के पतन का कारण था।

महाराणा प्रताप की शक्ति बहुत सीमित थी। राज्य का बड़ा भाग छिन चुका था। राज-कोष चित्तौड़ ही में रह गया था। चित्तौड़ के युद्ध में लगभग तीस हजार सैनिक भी काम आ चुके थे। और शत्रु था अकबर जैसा शक्तिशाली और नीतिनिपुण सम्राट् जिसकी सहायता के लिए प्राय: सभी राजपूत राजा तत्पर थे। इन परिस्थितियों में भी प्रताप ने उत्साह नहीं छोड़ा। उस ने परामर्श के लिए अपने सभी सरदारों को एकत्र किया और अपने मनोभावों को प्रकट करते हुए उनसे कहा, "बाप्पा रावल और राणा कुम्भा की मेवाड़-भूमि के सरदारो, आज हमारी मातृ-भूमि हमारी अपनी नहीं है। चित्तौड़ भी, जहां न जाने कितने वीरों का रक्त वसुधा को रंजित कर चुका है और कितनी महिलाएं अग्नि की ज्वालाओं से लिपट चुकी हैं, आज शत्रु के अधीन है। आज यहां पर मैं आपके सामने प्रण करता हूं कि जब तक मेवाड़ मातृभूमि को स्वतंत्र न कर लूं, चित्तौड़ से शत्रुओं को न निकाल लूं, राजप्रासाद को छोड़ कर झोंपड़ी में रहूंगा, सोने चांदी के बर्तनों को छोड़ कर पत्तों में भोजन करूंगा, पुष्प-सुसज्जित शय्या को छोड़ कर पृथ्वी पर सोऊंगा।" इन वीर-वचनों को सुनकर मेवाड़ के सरदारों ने अपने राणा के लिये अपने रक्त का अंतिम बिंदु बहा देने की प्रतिज्ञा की।

प्रताप उदयसागर झील के किनारे झोंपड़ी में रहने लगा। उसे ज्ञात था कि शत्रु चुप बैठने वाला नहीं, और उदयपुर नगर शत्रु की पहुंच से बाहर नहीं था। इस लिए उस ने प्रजा

को आज्ञा दी कि वह उदयपुर नगर को छोड़ कर कोमलमीर की घाटी में चली जाए। उस समय की एक घटना राजस्थान के वीर-गाथों में प्रसिद्ध है। एक गडरिए ने राजाज्ञा की अवहेलना करते हुए अपने स्थान को न छोड़ा और प्रताप ने इस अपराध में उसे और उसके जामाता को बंदी कर लिया। गडरिये का पुत्र प्रतिशोध की भावना से प्रताप को मार डालने की प्रतिज्ञा करके घर से चल दिया। गडरिए की बेटी भानुमती यह देख कर अपने महाराणा की रक्षा के लिये भेस बदल कर राजदरबार में पहुंची और उस ने अपने पिता, पति और भाई के जीवन की अवहेलना करके मातृभूमि के गौरव राणा को सावधान कर दिया।

कोमलमीर के दुर्ग में पहुंच कर प्रताप ने अपनी शक्ति को बढ़ाना आरम्भ किया। वह दुर्ग अर्वली पर्वत में एक दुर्गम स्थान पर होने के कारण आसानी से शत्रु की पहुंच में न था। प्रताप ने सेना का संग्रह किया। जंगली भील जातियों को अपने साथ मिलाया, परन्तु अस्त्र-शस्त्रों की बहुत कमी थी। उन दिनों सूरत का शहर एक प्रसिद्ध बन्दरगाह होने के कारण व्यापारिक केन्द्र था और मुग़ल व्यापारी देहली और सूरत के बीच व्यापार के लिए आते जाते, समीप ही राज-मार्ग से गुज़रते थे। प्रताप ने अपने सैनिकों को अनुमति दे दी कि वे उन व्यापारियों पर आक्रमण करके, उन के अस्त्र शस्त्रों को छीन कर इस कमी को दूर करें। इस लूटमार के समाचार अकबर को भी पहुँचने लगे और वह प्रताप को दंड देने के लिए

अवसर की प्रतीक्षा करने लगा।

एक बार शीतल नाम का एक भाट राणा प्रताप के पास आया था और राणा ने प्रसन्न होकर उसे अपनी बहुमूल्य पगड़ी दे दी थी। कालांतर में वही भाट घूमता फिरता मुग़ल दरबार में पहुंचा। जब उसे अकबर के सामने प्रस्तुत किया गया तो उस ने सिर झुकाकर नमस्कार करने से पहिले अपनी पगड़ी को उतार लिया। कारण पूछने पर उसने कहा कि "यह पगड़ी महाराणा प्रताप की दी हुई है जिस का सिर संसार की किसी शक्ति के आगे नहीं झुका।" अकबर के विश्वस्त सेनापति मानसिंह ने यह बात सुनी तो उस के हृदय में प्रताप से मिलने की इच्छा उत्पन्न हुई।

राजा मानसिंह दक्षिण-विजय से लौट रहा था तो महाराणा प्रताप से भेंट करने के लिए मेवाड़ में से गुजरा। उदय सागर झील के तट पर डेरे डलवा कर उस ने प्रताप को अपने आगमन का संदेश भेजा। प्रताप ने आतिथ्य-सत्कार का पूरा प्रबंध किया। परन्तु जब भोजन का समय आया तो, प्रताप स्वयं उपस्थित न हुआ प्रत्युत उसने अपने पुत्र अमरसिंह को भेज दिया। मानसिंह ने प्रताप के न आने का कारण पूछा तो अमरसिंह ने पिता के अस्वस्थ होने का बहाना किया। मानसिंह का माथा ठनका और उस ने समझ लिया कि प्रताप उस के साथ बैठ कर भोजन करने को तैयार नहीं है क्योंकि उसके वंश की लड़की अकबर के साथ विवाहित

है। मानसिंह ने इस बात को अपना अपमान समझा और वह रुष्ट होकर बिना खाए उठ कर चलने को तैयार हो गया। इतने में प्रताप भी पहुंच गया था। मानसिंह ने कहा "तुम्हारी प्रतिष्ठा बचाने के लिए हम ने अपनी प्रतिष्ठा को तिलांजलि दी और अपनी बहिन बेटियां मुग़लों को दीं। यदि इस पर भी तुम संतुष्ट नहीं हो तो तुम भी इस देश में नहीं रह सकोगे। यदि मैं तुम्हारा अभिमान न तोड़ूं तो मानसिंह नहीं हूं।" प्रताप ने कहा "मुझे सदा आप से मिल कर प्रसन्नता होगी"। प्रताप के सरदारों में से किसी ने पीछे से कह दिया, "अपने फूफा (अकबर) को भी साथ ले आना"। वाणी के तीर, जो सभी अस्त्र शस्त्रों से तीक्ष्ण और घातक होते हैं, चल चुके थे। उस के लिए घावों के भरने की कोई आशा न थी। कहते हैं कि मानसिंह के जाने के पश्चात् उस स्थान की मिट्टी को, जहां मानसिंह के ठहरने और सहभोज का प्रबन्ध किया गया था, खोद कर निकाल दिया गया और वहां पर गंगा जल का सिंचन किया गया।

जो कुछ होने वाला था, प्रताप उस से अपरिचित नहीं था। उस ने कोमलमीर और गोगंडा के पर्वतीय दुर्गों को और दृढ़ किया और गुरेला युद्ध की ठानी।

मानसिंह ने सारा वृत्तांत अकबर को सुनाया। १६७६ ई० में प्रताप पर आक्रमण करने के लिये दो लाख सेना तैयार की गई। मानसिंह और शक्तिसिंह भी उस सेना के साथ थे। सेना बढ़ती हुई अर्वलीपर्वत में घुस गई।

मुग़ल सेना को संकीर्ण पहाड़ी दर्रों में से, पर्वतों के बीच के तंग मार्गों में से, गुजर कर जाना था। प्रताप ने इन मार्गों के दोनों ओर की ऊंची पहाड़ियों पर भीलों को बिठा रखा था जो पत्थरों और तीरों से मुगल सेना को हताहत कर रहे थे। बड़ी कठिनाई से उन दर्रों को पार कर के सेना हल्दीघाटी नाम के वीरगाथा प्रसिद्ध खुले स्थान में पहुँची।

हल्दीघाटी का नाम भारतीय इतिहास में वीरों के रक्त से अंकित है। हल्दीघाटी का नाम सुनकर हृदय में अद्भुत उत्साह, उल्लास और आत्म-गौरव के भाव जागृत होते हैं। इस नाम में कायरों को वीर बनाने की, हतोत्साहों में उत्साह भरने की शक्ति है। अपने पुत्रों को शूरवीर बनाने के लिए भारतीय माताएं हल्दीघाटी की मिट्टी उन के मस्तक पर लगाती रही हैं। इस स्थान की मिट्टी को लोग भेंट के रूप में ले जाते और भेजते हैं। भारत में कितने ही सार्वजनिक भवनों की नींव में हल्दीघाटी की मिट्टी रखकर निर्माण-कर्ताओं ने अपने को कृत-कृत्य माना है। भारत के स्वतन्त्रता संग्राम में न जाने कितने सैनिकों ने हल्दीघाटी से प्रेरणा पाकर आत्मत्याग और बलिदान के मार्ग को अपनाया, न जाने कितने युवकों ने हल्दीघाटी की वीरगाथा को स्मरण करते हुए हंस २ कर प्राण दिए। यही निर्जन, कंटक प्रस्तराकीर्ण स्थान राणाप्रताप और उस के साथियों की उस समय की वीरता का साक्षी है।

दो लाख मुग़ल सेना और चंद हज़ार राजपूत! फिर भी

घमसान का युद्ध हुआ। एक २ राजपूत बीसियों मुगलों पर भारी था। मुगल-सेनापति और मानसिंह बाल २ बचे। प्रताप [illegible]-सिंह की भांति जिधर जाता था उधर मुगल सेना में भगदड़ पड़ जाती थी। मुगलों की सेना में भी बहुत से राजपूत सैनिक थे। लोहा लोहे से टकरा रहा था। भारतीय वीर भारतीय वीर के रक्त का प्यासा था। इसी संग्राम में किसी मुगल सरदार के पूछने पर कि दोनों पक्षों के राजपूतों में वे अपने पराए को कैसे पहचानें, मुगल सेनापति ने कहा था कि, "किसी पक्ष का राजपूत मरे, इसलाम का तो इस में लाभ ही है।" प्रताप के आक्रमणों को देखकर बहुत से मुगल सरदारों ने उसी को ही घेरने और पकड़ने के लिए अपनी सारी शक्ति लगा दी। प्रताप भी बहुत थक कर हार चुका था। उस के सैनिकों के शरीर भी रक्त-रंजित थे। लाखों और हजारों में कुछ कम अंतर नहीं होता। प्रताप मुगल सरदारों में घिर गया था। झाला के सरदार राजा मन्नासिंह ने यह देखा तो पास जाकर अपने राणा का छत्र अपने ऊपर धारण करके राणा से अपने बहुमूल्य प्राणों की रक्षा करने के लिए अनुरोध किया। मुगल सरदारों ने राजचिह्न देख कर मन्नासिंह को घेर लिया और वह वीर अनेक शत्रुओं को तलवार के घाट उतार कर अंततः स्वयं भी भूशायी हो गया। अपने प्राणों पर खेल कर झाला सरदार ने मेवाड़ के गौरव प्रताप के प्राण बचा लिए।

प्रताप क्षत-विक्षत अवस्था में अपने घोड़े चेटक को उड़ाए

लिए जा रहा था। दो मुग़ल अश्वारोही पीछे लगे थे। घोड़ा भी दिनभर के लगे असंख्य घावों से निढाल था परन्तु स्वामी को भयस्थल से निकाल ले जाने के लिए जी तोड़ कर भागा जा रहा था। सम्भव था कि घोड़ा दम तोड़ दे और मुग़ल अश्वारोही प्रताप को जा लें। इतने में प्रताप ने पीछे फिर कर देखा तो किसी तीसरे व्यक्ति ने उन दोनों मुग़ल अश्वारोहियों को मार गिराया था और वह तीसरा व्यक्ति स्वयं प्रताप का नाम लेकर पुकारता हुआ पीछे आ रहा था। प्रताप ने आवाज़ को पहचान कर घोड़ा थामा। आगे एक नदी थी जिसे पार करना था। घोड़े ने तो थमते ही प्राण दे दिये। इतने में शक्तिसिंह भी पास आ पहुंचा था। भाई की, मेवाड़ के नरेश की अवस्था देख कर उसका जी भर आया। पांवपर गिरा। प्रताप ने उठा कर गले लगाया। दोनों भाई जी भर कर रोए। निर्जन वन था। स्वामीभक्त घोड़ा पास मरा पड़ा था। नदी की धारा बहे जा रही थी। दोनों भाई जीवन भर की स्मृतियों से द्रवित-हृदय चुपचाप रो रहे थे। ठहरने का समय नहीं था। शक्तिसिंह ने अपना घोड़ा प्रताप को दिया और फिर मिलने को कह कर लौट गया।

जिस स्थान पर प्रताप के प्रिय घोड़े ने प्राण छोड़े थे, वहां प्रताप ने पश्चात् उस की स्मृति में एक चबूतरा बनवाया, जो आज भी वर्तमान है और हल्दीघाटी की अपूर्व राजपूती वीरता का स्मारक है।

हल्दीघाटी के युद्ध के पश्चात् प्रताप अपने कोमलमीर के

पहाड़ी दुर्ग में चला गया परन्तु वहां भी शाहबाज खां के अधीन एक बड़ी भारी सेना ने घेरा डाल दिया। आक्रमण करके दुर्ग को पराजित करना भी कठिन था। मुग़ल सेना बहुत देर पड़ी रही। अन्ततः दुर्ग के समीपस्थ सभी कुओं और जलाशयों का पानी सूख गया। कुछ अंतर पर एक कुएं के जल में समीप के एक राजपूत राजा ने विष डलवा दिया। ऐसी परिस्थिति में प्रताप को यह दुर्ग भी छोड़ना पड़ा और उसने आगे जंगल में जाकर भीलों के पास शरण ली। शत्रु की सेना वहां भी पहुंच गई थी। एक दिन प्रताप अपनी पत्नी और बच्चों को भीलों के पास छोड़ कर स्वयं अपने साथियों के साथ शत्रु की एक टोली पर आक्रमण करने के लिए गया। लौट कर उसने देखा कि भीलों ने बच्चों को, अपने बच्चों ही के समान, टोकरियों में लिटा कर वृक्षों की शाखाओं से लटका रक्खा था। मेवाड़ के राजकुमारों और राजकुमारियों को भीलों के बच्चों के समान टोकरियों में वृक्षों से लटके देख प्रताप की आंखों में आंसू आ गए।

अब प्रताप के जीवन का सब से अधिक संकटमय भाग प्रारम्भ होता है। सब ओर मुग़ल सेना घात में है। सारा दिन पर्वतों की कंदराओं या घने जंगल में छुपे रहना पड़ता है। सब राजपूत राजा मुग़ल सम्राट् को सलाम करने मात्र से वैभव और सम्पत्ति में लोट रहे थे और यह स्वतंत्रता का पुजारी, अपने मस्तक को न झुकाने के अपराध में, वर्णनातीत कष्ट भोग

रहा था। परन्तु आज उन वैभवशाली राजाओं को तो हम स्मरण भी नहीं करते, और स्मरण करते भी हैं, तो घृणा भाव से, परन्तु भीलों का जीवन व्यतीत करने वाले प्रताप का जीवन-चरित लिख कर अपने को धन्य मानते हैं।

उन्हीं अरण्यवास के दिनों में प्रताप की आंखों के सामने एक छोटी सी घटना हुई जिस से उस के हृदय पर बहुत प्रभात पड़ा। एक दिन प्रताप की पत्नी ने जंगली घास को कूट कर उस से कुछ रोटियां बनाईं। और तो सब ने अपनी २ रोटी खा ली परन्तु एक लड़की के लिए जो उस समय सो रही थी, एक रोटी वृक्ष की शाखा पर रख दी। उस रोटी को जंगली बिल्ली उठा कर ले गई। जब लड़की सोकर उठी तो रोटी न पाकर बिलख बिलख कर रोने लगी। सिसोदिया वंश के गौरव, बाप्पारावल और राणाकुम्भा के वंशज, राणा सांगा के पौत्र में इतनी सामर्थ्य न थी कि राजकुमारी को उस समय जंगली घास की एक दूसरी रोटी दे सकता। जो लोग संकटों के चक्र में से गुज़रे हैं, जिन्होंने आधुनिक भारत के स्वाधीनता संग्राम के कष्टों का कुछ अनुभव किया है, वे जानते हैं कि मनुष्य में दुर्बलता प्रायः परिवार ही के कारण आती है। बेटी का रोना प्रताप से सहन न हो सका। हृदय में एक नए विचार की झलक पड़ी, ऐसे विचार की जिससे प्रताप आज तक अपरिचित था। उस विचार पर प्रताप को लज्जा आई। परन्तु वही विचार पुनः अधिक प्रेरणा-शक्ति लेकर उद्भूत हुआ। प्रताप ने अब उस विचार का पहले,

कुछ स्वागत किया परन्तु तत्पश्चात् झट उसे हृदय से निकाल दिया। वही विचार फिर प्रकट हुआ और पहले से भी अधिक मोहक आकृति में। कुछ ही देर में उस विचार ने राणा के हृदय पर अधिकार जमा लिया। प्रताप ने एक पत्र पर लिखा, "कष्टों की हद हो गई। इन्हें कम करो" और पत्र अकबर के पास भेज दिया।

अकबर ने यह शब्द पढ़े तो बहुत प्रसन्न हुआ। राजस्थान की आत्मा उसकी शक्ति के आगे झुकने को तैयार थी। अकबर के दरबार के राजपूत सरदारों ने भी प्रताप को मुग़ल-सम्राट् की शरण आने को तैयार देख कर संतोष माना होगा। परन्तु अकबर के दरबार में एक राजपूत कवि पृथ्वीराज था। यद्यपि वह अकबर का दरबारी कवि था, तथापि अंतःकरण में वह प्रताप का उपासक था। समझ गया कि प्रताप ने किसी दुर्बलता के क्षण में ऐसा लिख दिया है। उसने अकबर से कहा, "मैं प्रताप के लेख को पहचानता हूँ। ये अक्षर उसके लिखित नहीं हैं। यदि आप आज्ञा दें तो प्रताप को अपनी ओर से पत्र लिख कर इस बात का निश्चय कर लूं।" अकबर ने उसकी बात को मान लिया। पृथ्वीराज ने प्रताप को निम्नलिखित आशय का पत्र लिखा—

"भारतभूषण, मेवाड़ केसरिन्, राजस्थान चूडामणि! देश का बहुत अधःपतन हो चुका है। हम सब अपने आत्मसन्मान को सुरक्षित न रख कर मुग़ल सम्राट् की वश्यता ग्रहण कर चुके हैं। एक आप हमारी आशाओं की ज्योति थे, एक आप

स्वतन्त्रता के प्रदीप थे, और अब वह ज्योति भी लुप्त होने को है, यह प्रदीप भी बुझने को है। विश्वास कीजिए कि हमारे लाखों मित्र आप की अकिंचनता पर न्यौछावर होने के योग्य भी नहीं हैं।

प्रताप ने पत्र पढ़ा तो उसका लुप्तप्राय उत्साह लौट आया। मोह का आवरण छिन्न भिन्न हो गया। निराशान्धकारावृत रात्री का अंत हो गया। देश-सेवादर्श सूर्य का हृदय-नभस्तल में उदय हो गया। वह मोहक विचार फिर से तिरस्कार का पात्र बन गया। अपनी दुरवस्था में आत्माभिमान का अनुभव हुआ। प्रताप फिर से प्रताप बन गया और मेवाड़ की स्वतन्त्रता के लिए उपाय सोचने लगा।

वहां जंगल में अपनी शक्ति को बढ़ाने के साधन न देख कर प्रताप ने सिंधु नदी की ओर प्रस्थान किया। जब मनुष्य किसी सत्कार्य के लिए कटिबद्ध हो जाता है और विकट परिस्थितियों की प्रतीक्षा में उत्तीर्ण हो चुकता है तो भगवान् प्रायः उसकी सफलता के साधन जुटा देते हैं। राणा के साथी काम आ चुके थे। नई सेना सनद्ध करने के लिए धन नहीं था। परन्तु परीक्षाग्नि में तप कर प्रताप कुंदन सिद्ध हुआ था। भविष्य के बारे में आशा और निराशा की तरंगों में बहता हुआ प्रताप देश को छोड़ कर सिंधु की ओर जा रहा था कि मार्ग में ऋषभ देव नाम के स्थान पर एक अपरिचित वृद्ध पुरुष ने आकर नमस्कार किया। आगंतुक ने अपना नाम भामा शाह बताया

और कहा कि उस के पूर्वज राणा के पूर्वजों के मंत्री रह चुके थे। भामा शाह ने अपनी सारी पुंजी २५००० मुहरें राणा के चरणों में रख कर प्रार्थना की, "महाराज यह धन आप के पूवजों का दिया है। आप निस्संकोच भाव से इसे ग्रहण कीजिये और सैन्य-संग्रह के लिये उपयोग में लाइए।" यह अतर्कित-पूर्व सहायता पाकर प्रताप ने पुनः सेना का संगठन किया। उस ने शाहबाज़खां पर आक्रमण किया और बिजय पाई। शीघ्र ही कोसलमीर और आस पास के पहाड़ी दुर्गों पर पुनः प्रताप का झंडा लहराने लगा। अब प्रताप का भाग्य उदयोन्मुख था। संकटों की हद होने के पश्चात् भाग्य ने पलटा खाया। जिस दुर्ग पर उस ने आक्रमण किया, विजय ने स्वागत किया। थोड़े ही समय में प्रताप ने ३२ बड़े दुर्गों पर अधिकार जमा लिया। उदयपुर को भी जीत लिया। अब केवल चित्तौड़, अजमेर और मंडल गढ़ के प्रसिद्ध दुर्ग रह गए थे जिन को जीतना बाकी था।

राज्य सिंहासन पर बैठते ही प्रताप ने चित्तौड़ को जीतने की प्रतिज्ञा की थी। वह प्रतिज्ञा अभी पूरी नहीं हुई थी कि मृत्यु का संदेश आ पहुंचा। मनुष्य अपने हृदय में कितनी आशाएं और भावनाएं करता है परन्तु सफलता किसी अन्य शक्ति के अधीन है, प्रयत्न और पुरुषार्थ ही मनुष्य के वश में हैं। तत्पश्चात् भगवान् का हाथ है।

१६६७ ई० का वर्ष था। महाराणा प्रताप अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार एक झोंपड़ी में भूमि पर बिछी मृत्यु-शय्या पर लेटा था।

जीवन प्रदीप टिमटिमा रहा था। राणा का पुत्र अमरसिंह और अन्य सरदार पास थे। झौंपड़ी के द्वार में से गुजरते हुए अचानक अमरसिंह की पगड़ी एक बांस से उलझ गई और राणा को राजकुमार के मुख पर एक भाव दिखाई दिया मानों उसके हृदय में झौंपड़ी और झौंपड़ी के जीवन के प्रति घृणा हो। यह देख कर प्रताप को बहुत दुःख हुआ और उसके अंतःकरण की वेदना मुख पर अंकित हो गई। एक सरदार ने पूछा, "महाराज, इस समय आप का हृदय संक्षुब्ध दिखाई देता है। आपके अंतःकरण में कोई वेदना जान पड़ती है। कहिए क्या कारण है ?" महाराणा ने उसी पगड़ी वाली घटना की ओर संकेत कर के कहा, "मुझे दिखाई देता है कि मेरी मृत्यु के पश्चात् इन झौंपड़ियों के स्थान पर राजप्रासाद खड़े हो जाएंगे और मेरी प्रतिज्ञा विस्मृत हो जाएगी। यही सोच कर मेरी आत्मा शरीर को सुखपूर्वक नहीं छोड़ रही है।" सरदारों ने महाराणा को विश्वास दिलाया कि वे चित्तौड़ विजय की प्रतिज्ञा को नहीं भूलेंगे और झौंपड़ियों की जगह महल नहीं बनने देंगे।" यह आश्वासन पाकर महाराणा की आत्मा ने सन्तोषपूर्वक शरीर को छोड़ दिया।

महाराणा की मृत्यु के पश्चात् मुग़ल सेना ने पुनः मेवाड़ पर आक्रमण किया। सलीम और मानसिंह सेनापति थे। स्वर्गीय वीर के पुत्र अमरसिंह ने युद्ध में शत्रु का सामना किया। कुछ समय पश्चात् मुग़ल सेना को किसी दूसरी मुहिम के लिए

वापिस बुला लिया गया।

महाराणा प्रताप के पश्चात् मेवाड़ के राणा अपने वीर पूर्वज के प्रण को भूले नहीं।

भारत के इस सपूत की मृत्यु हुए शताब्दियां बीत गईं। देश के इतिहास में कितने ही परिवर्तन हो गए। मुग़ल साम्राज्य उन्नति और ऐश्वर्य की पराकाष्ठा को पहुंच कर पतन की ओर अग्रसर हुआ। अंग्रेज़ी राज्य की स्थापना हुई और भारत की पराधीनता एक नए और अधिक भयानक रूप में परिवर्तित हो गई। दीर्घकालानंतर पुनः भारत का जागरण हुआ और स्वाधीनता के दर्शन हुए। इस सारे समय में महाराणा प्रताप स्वतंत्रता का अग्रदूत बन कर देश को स्वाभिमान और आत्मगौरव का मार्ग दिखाता रहा है। भारतीय पराधीनता के विशाल मरुस्थल में कहीं २ जो स्वाधीनता के हरे भरे उद्यान दृष्टि-गोचर होते हैं, उनमें एक मनोहर उद्यान इस राजस्थान केसरी का जीवन और राजत्व काल है। राष्ट्र की दुःस्वप्नों भरी पराधीनता-निद्रा में जो कुछ सुस्वप्न दिखाई दिए, उनमें एक था इस राजपूत वीर का जीवन संघर्ष।

महाराणा प्रताप का जीवन सदा हमें स्वाधीनता के लिए प्रेरणा देता आया है। आज स्वाधीनता का युग आरम्भ होने पर राणा हमारे देश के आत्मगौरव के वीर रक्षकों में स्थान पाकर राष्ट्र में सन्मानित और पूजित होंगे।

छत्रपति शिवाजी

भारत की शताब्दियों की पराधीनता के युग में जो कहीं २ राष्ट्रीय जागृति की आभा दिखाई दे जाती है, उसी से इस प्राचीन देश की अमर जीवन-ज्योति का परिचय मिलता है। यही जीवन-ज्योति कभी राणा सांगा के रूप में चमकी थी और यही जीवन ज्योति तत्पश्चात् राणा प्रताप के रूप में प्रकट हुई। राजस्थान में इस जीवन-ज्योति के और भी कई रूप दिखाई दिये। देश के अन्यभागों में भी यह ज्योति कभी केवल एक स्फुलिंग के रूप में और कभी २ प्रज्वलित अग्नि के रूप में प्रकट होती रही। आज हम यहाँ इस लेख में इस ज्योति के एक बहुत प्रज्वलित रूप का वर्णन करेंगे जो पराधीनता की अर्धरात्रि में दक्षिण के पश्चिमी तट पर, महाराष्ट्र प्रांत में, प्रकट हुआ और जिस ने चतुर्दिग्विस्तृत अंधकार में एक चिरस्थायी प्रकाश उत्पन्न कर दिया।

राजस्थान का इतिहास सिसोदिया वंश में उत्पन्न हुए वीर पुरुषों की जीवन गाथाओं से उज्ज्वल है। इसी सिसोदिया वंश रूपी महावट की एक शाखा किसी समय राजस्थान से लाकर महाराष्ट्र में स्थापित कर दी गई थी और इस नए देश में उसके नाम भौंसला वंश प्रसिद्ध हुआ। इस शाखा के साथ सम्बन्ध रखने वाले महान-

भावों में वही रक्त प्रवाहित होता था जिस की लालिमा से राजस्थान-मही सुशोभित होती रही है। सोलहवीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में इस वंश का प्रधान-पुरुष मालोजी भौंसला दक्षिण के निज़ामशाही राज्य में साधारण ज़िलेदार के पद पर नियुक्त था।

दक्षिण में उस समय कई छोटे २ मुसलमान राज्य थे जिन में से हमारा सम्बन्ध यहां अहमद नगर के निज़ामशाही और बीजापुर के आदिलशाही राज्यों से है। कुछ समय तक तो ये दक्षिण में उत्तरी भारत से दूर होने के कारण मुग़ल-सत्ता के अधिकार से सुरक्षित रहे, परन्तु पश्चात् अकबर के समय से ही मुग़ल सम्राटों का ध्यान इस ओर आकर्षित हो गया। एक तो वैसे ही समृद्ध मुग़ल साम्राज्य के सामने इन छोटे २ राज्यों के बहुत देर तक टिकने की शक्ति न थी और फिर ये बहुधा पारस्परिक फूट और वैमनस्य के शिकार रहते थे। अकबर के समय में ही अहमदनगर पराजित हो चुका था परन्तु अभी निज़ाम-शाही राज्य का अन्त नहीं हुआ था। निज़ाम-शाही राज्य के प्रसिद्ध सेनापति मलिक अम्बर ने देर तक निज़ामशाही सत्ता को बनाए रखा और मुग़ल सत्ता के साथ टक्कर ली। मलिक अम्बर ने मुग़लों के विरुद्ध अपनी शक्ति को बढ़ाने के लिए मराठा सरदारों को अपने साथ मिला लिया। इन्हीं मराठा सरदारों में एक मनसबदार लखूजी जादवराय भी था।

एक दिन रंगपंचमी के त्यौहार के उपलक्ष में निज़ामशाही दरबार के बहुत से मराठा सरदार और अधिकारी लखूजी जादवराय के मकान पर एकत्र थे और उत्सव मनाया जा रहा था। मालोजी भौंसला भी वहां उपस्थित थे और उन के साथ उन का पुत्र शाहजी भी था जो एक बहुत सुन्दर शिशु था। लखूजी जादवराय की पुत्री जीजाबाई भी वहीं आ निकलीं और दोनों बच्चे मिलकर खेलने लगे। लखूजी हंसोड़ प्रकृति के थे। बच्चों को देख कर बोले, "क्या सुन्दर युगल है ! क्यों जीजी, तुम को यह दूल्हा पसंद है ?" बात हंसी में कही गई थी परन्तु मालोजी ने अवसर का लाभ उठाया। उन्हों ने उठ कर उपस्थित सज्जनों को सम्बोधित करते हुए कहा, "आप सब लोग साक्षी हैं। लखूजी ने अपनी पुत्री का वाग्दान मेरे पुत्र के लिए दे दिया है।" लखूजी और दूसरे लोग हंस दिए। समय बीतता गया परन्तु मालोजी अपने आग्रह पर दृढ़ रहे। उधर लखूजी और उनकी पत्नी अपनी बेटी एक साधारण ज़िलेदार के बेटे को देने के लिए तैयार न थे। मालोजी और लखूजी में वैमनस्य बढ़ने लगा। लखूजी मनसबदार सरदार थे और उन की दरबार में चलती थी। मालोजी को तंग आकर नौकरी छोड़नी पड़ी। परन्तु कुछ समय पश्चात् मालोजी को अपनी भूमि में से पुराना दबा हुआ ख़ज़ाना मिल गया और उन्हों ने भी सैनिकों की एक टुकड़ी बना ली और फिर से जाकर निज़ामशाही दरबार में नौकरी कर ली। सुल्तान मालोजी की

योग्यता और वीरता से बहुत प्रसन्न था । जब मालोजी ने वही पुरानी वाग्दान की बात सुल्तान तक पहुंचाई तो सुलतान ने लखूजी से अपना वचन पूरा करने की प्रेरणा की । जब लखूजी ने यह कहा कि वह अपने से छोटे मनसब वाले मालोजी के बेटे को अपनी लड़की कैसे दे दें, तो सुलतान ने मालोजी का मनसब भी लखूजी के तुल्य कर दिया । अब लखूजी ने सुलतान के कहने पर जीजाबाई का विवाह तो शाहजी से कर दिया परन्तु उस का हृदय साफ न हुआ । मालोजी के मरने पर शाहजी को पिता का मनसब मिल गया । लखूजी के हृदय में अपने जामाता के प्रति भी वही द्वेष और शत्रुता का भाव बना रहा और वह शाहजी को नीचा दिखाने के उपाय सोचते रहे ।

उन दिनों निज़ामशाही राज्य और मुग़ल सेना में युद्ध चल रहा था और मुग़ल सेना बढ़ती आ रही थी । शाहजी सुलतान की ओर से लड़ रहे थे परन्तु लखूजी अब मुग़लों से मिल गए थे । शाहजी की जागीर भी मुग़ल सेना से पदाक्रांत हो चुकी थी । शाहजी को निरंतर एक स्थान से दूसरे स्थान की ओर भागना पड़ रहा था । गर्भवती जीजाबाई शिवनेरी नाम के एक दुर्ग में शाहजी के एक मित्र के पास थी और वह दुर्ग भी अब मुग़लों द्वारा विजित प्रदेश में था । लखूजी जादवराय को अपने जामाता के प्रति शत्रुता ने अपनी पुत्री का भी शत्रु बना दिया था । वे शाहजी को बंदी बनाने के भाव से शिवनेरी पहुंचे परन्तु शाहजी वहाँ से जा चुके थे । साथियों के समझाने पर

उन्होंने बेटी से मिलना स्वीकार किया। जीजाबाई ने पिता से कहा, "अब वे तो यहां नहीं हैं। यदि आप मुझ से उन का बदला निकालना चाहें तो उपस्थित हूँ।" लखूजी पुत्री की बात सुन कर दुखी हुए और उसे अपने पास रखने की इच्छा प्रकट की, परन्तु स्वाभिमानी जीजाबाई ने वहीं शिवनेरी के दुर्ग में रहना उचित समझा, जहाँ पतिदेव ने उसे रखा था।

इस घटना के कुछ ही दिन पश्चात् १६२७ ईस्वी में शिवनेरी दुर्ग ही में भावी छत्रपति शिवाजी का जन्म हुआ। उस समय किसे ज्ञात था कि एक प्रकार के बंदीगृह में जन्म लेने वाला यह बालक एक दिन भारतवर्ष में सूर्य बन कर चमकेगा।

युद्ध समाप्त हो चुका था। निज़ामशाही राज्य का अंत हो गया था। उस राज्य का कुछ भाग मुग़ल राज्य में मिला लिया गया था और कुछ बीजापुर के राज्य में मिला दिया गया था, क्योंकि बीजापुर ने निज़ामशाही राज्य के विरुद्ध मुग़ल सेना की सहायता की थी। शाहजी को भी बीज़ापुर के आदिलशाही दरबार में मनसब मिल गया था, और वे एक दूसरा विवाह करके बीजापुर में ही रहने लगे थे।

ऐसी परिस्थितियों में शिवाजी का जन्म हुआ और बचपन बीता। पिता और पति के पारस्परिक मनोमालिन्य के कारण जीजाबाई का गार्हस्थ्य-जीवन सुखी नहीं रहा था। उसे न केवल अपने पतिदेव से अलग रहना पड़ रहा था परन्तु पतिदेव ने एक दूसरा विवाह कर के उस के हृदय पर एक गहरा घाव लगाया

था। ऐसी अवस्था में एक सती साध्वी भारतीय स्त्री की शरण भगवान् के अतिरिक्त और कौन हो सकता है। जीजाबाई का जीवन ईश्वरभक्ति और कथावार्ता में बीतता। शिवाजी के जीवन पर इन परिस्थितियों का प्रभाव पड़ा। माता की ईश्वरभक्ति और धर्मनिष्ठा शिवाजी की प्रकृति में मिल गई। जीजाबाई को नवजात पुत्र से बहुत प्रेम था। एक तो माता का पुत्र के प्रति प्रेम वैसे ही एक अद्भुत भाव है और जब वह पति द्वारा तिरस्कृत की गई हो, पिता द्वारा भी सन्मानित न हो, तो उस के हृदय का सारा स्नेह भाव पुत्र में केंद्रित हो जाना एक स्वाभाविक बात है। माता और पुत्र का अपना ही संसार था। बहुत समय तक पुत्र पिता से अपरिचित ही रहा। माता अपनी धर्मभावना को, रामायण और महाभारत की परम्पराओं को, हिन्दू-संस्कृति के के तत्त्वों को, अपने स्नेह के साथ मिला कर पुत्र के कौतूहल-पूर्ण हृदय में उंडेलती।

कुछ कालानंतर शाह जी की पूना और सूपा की जागीर उन को फिर से मिल गई और उन्होंने एक अनुभवी महानुभाव दादाजी कोणदेव को उस जागीर का प्रबन्ध-कर्ता नियुक्त करके जीजाबाई और शिवाजी का वहीं दादाजी के पास रहने का प्रबन्ध कर दिया। दाजी कोणदेव ही शिवाजी के शिक्षक कहे जा सकते हैं। शिवाजी के पुस्तकें पढ़ने का वर्णन तो नहीं मिलता परन्तु दादाजी के पास रहकर उन्हें व्यावहारिक विद्या प्राप्त हो गई थी। जैसे २ शिवाजी की आयु बढ़ती गई वैसे २

दादाजी कोणदेव उसे जागीर के प्रबन्ध-सम्बन्धी कामों में अपने साथ सम्मिलित करने लगे। शिवाजी को खेल कूद में, मृगया में, बहुत रुचि थी। बचपन ही में वह अपनी जागीर में आस पास के बच्चों की सेनाएं संगठित करके युद्ध संबन्धी खेल खेला करता था। १३ वर्ष की आयु में पूना ही में शिवाजी का विवाह निम्बालकर वंश की कन्या सईबाई के साथ हो गया।

शाहजी चाहते थे कि शिवाजी को भी बीजापुर के आदिल-शाही दरबार में मनसब दिला दें। इसलिए उन्होंने सुलतान से परिचय करवाने के लिए शिवाजी को बीजापुर बुला लिया। एक दिन दरबार की सब मर्यादाओं के बारे में बहुत समझा बुझा कर शाहजी पुत्र को दरबार में ले गए। दरबार में सुलतान को मुजरा करने का, पृथ्वी को स्पर्श करके नमस्कार करने का, रिवाज था, परन्तु शिवाजी ने साधारण रूप से नमस्कार किया। शाह जी के मित्र मुरारपंत ने शिवाजी के प्रथम बार दरबार में आने और दरबार की मर्यादा से अपरिचित होने की बात कह कर टाल दिया। सुलतान शिवाजी को देखकर बहुत प्रसन्न हुए। शिवाजी दरबार में आने जाने लगे परन्तु वह सुलतान को मुजरा न कर के साधारण नमस्कार ही करते। एक दिन सुलतान ने मुजरा न करने का कारण पूछा तो शिवा जी ने कहा, "मैं आप में और पिता जी में कोई अन्तर नहीं समझता। जैसे मैं पिता जी को नमस्कार करता हूँ, वैसे ही आप को करता हूँ।" इस उत्तर से सुलतान बहुत प्रसन्न हुआ।

शिवाजी के अन्दर शैशव में माता के उपदेशों के कारण धर्मभावना कूट २ कर भरी थी। उन दिनों वैसे भी एक प्रकार के धार्मिक जागरण के भाव महाराष्ट्र के वातावरण में वर्तमान थे। पन्द्रहवीं और सोलहवीं शताब्दियों में जैसे उत्तरीय भारत में रामानन्द, कबीर, नानक, तुलसी, और सूरदास ने जन्म लेकर भिन्न २ भक्ति धाराओं को प्रवाहित कर दिया था, एक आध्यात्मिक जागृति का आरम्भ किया था, वैसे ही दक्षिण में भी तुकाराम, एकनाथ, वामन और समरथ गुरु रामदास ने उत्पन्न होकर जनता की धर्मभावना को जागृत कर दिया था। इस धर्म भावना का प्रभाव कुछ तो वातावरण से और कुछ जीजाबाई और समरथ गुरु रामदास के उपदेशों के कारण शिवाजी पर बहुत गहरा था। जाने को तो वे दरबार में जाते थे और सुलतान को उन से प्रेम भी बहुत था परन्तु उन के हृदय में मुसलमानी राज्य से उत्पन्न हुए वातावरण के प्रति घृणा थी। गो ब्राह्मण की रक्षा को वे धर्म का स्थूल स्वरूप समझते थे और मुसलमानी राज्य में इस धर्म के पालन की क्या सम्भावना हो सकती थी? बीजापुर में स्थान २ पर कसाईखाने थे और गोमांस खुला बिकता था। दरबार को जाते हुए भी शिवाजी को गोमांस की दुकानों के पास से होकर जाना पड़ता था और उन्हें बहुत मानसिक वेदना होती थी। अंततः एक दिन शिवाजी ने पिता से स्पष्ट कह दिया कि जब तक बीजापुर में गोमांस खुला बिकता और गोहत्या होती है, वे

दरबार में नहीं जाएंगे। पिता ने बहुत समझाया परन्तु शिवाजी टस से मस न हुए। बात सुलतान तक पहुंची तो मीरजुमला नाम के एक मुसलमान सरदार ने, जो शाह जी का मित्र था, सुलतान से प्रार्थना की कि क्योंकि हिंदुओं के धर्म में गोहत्या पाप है और इस से उन्हें मानसिक वेदना होना स्वाभाविक है, अतः नगर में गोहत्या बंद होनी चाहिये। सुलतान ने इस बात के तथ्य को स्वीकार करके निम्नलिखित आशय की विज्ञप्ति निकाल दी, "आज से नगर में न तो कोई गोवध कर सकेगा और न गोमांस बेच सकेगा। जो-कोई इस आज्ञा को नहीं मानेगा, उसे उचित दंड दिया जायगा।" अब शिवा जी फिर से राजदरबार में आने जाने लगे। सुलतान की आज्ञा से जहां हिंदू जनता बहुत प्रसन्न हुई वहां बहुत से संकीर्ण-हृदय मुसलमानों ने इसे बुरा मनाया और उन के अंदर सुलतान के प्रति दुर्भाव उत्पन्न हो गए।

शिवाजी के अंतःकरण में हिंदुत्व का प्राबल्य था और वे बहुधा इस सम्बन्ध में अपने विचारों को प्रकट करते रहते थे। पिता को आशंका बनी रहती थी कि किसी समय पुत्र कोई ऐसी बात कह या कर न बैठे जिस से सुलतान रुष्ट हो जाये। शाहजी तो पुत्र को दरबार में मनसब और कोई जागीर दिलाना चाहते थे परन्तु पुत्र के हृदय में राष्ट्रीयता के भाव निहित थे। उन्होंने और उनके कहने से जीजाबाई ने भी शिवाजी को बहुत समझाया कि वे अपने दृष्टिकोण को परिवर्तित करके सांसारिक बुद्धि को ग्रहण

करें और सुलतान के अधीनस्थ सरदार और जागीरदार बनकर जीवन यापन करें परन्तु जिस शिवाजी ने एक स्वतंत्र हिन्दूराष्ट्र की स्थापना करनी थी, वे इन बातों को कैसे मान सकते थे। अंततः शाहजी ने पुत्र को जीजाबाई के साथ अपनी पूना की जागीर में भेज दिया और वहां रहते हुए शिवाजी ने अपना जीवन-कार्य्य आरम्भ किया।

पूना के पश्चिम में सह्याद्रि (पश्चिमी घाट) के अन्दर एक दस बारह मील चौड़ा परन्तु उत्तर से दक्षिण को बहुत लम्बा प्रदेश मावल देश नाम का है। यह प्रदेश मावला या मावली जाति का निवास स्थान है। इसी जाति में से शिवाजी ने अपनी सेना का संगठन किया। मावला लोगों का व्यवसाय कृषि था। पर्वतीय प्रदेश के निवासी होने के कारण वे परिश्रमी और कर्मठ थे। शैशव काल से ही शिवाजी का इन लोगों के साथ घनिष्ठ परिचय था। मावल प्रदेश में बहुत से सरदार थे। प्रायः वही लोग आगामी जीवन में शिवाजी के साथी बने। शिवाजी ने अपने गुणों से, अपने सद्व्यवहार से, मावला लोगों के हृदयों को जीत लिया था। वैसे तो उस समय महाराष्ट्र में सर्वत्र क्षात्र-शक्ति का संचार हो चुका था, दक्षिण की मुसलमानी रियासतों के पारस्परिक संघर्ष से मराठों को अपनी शक्ति बनाने का अच्छा अवसर मिल चुका था, परन्तु मावला लोग तो न केवल योद्धा और युद्ध-कुशल ही बने, प्रत्युत शिवाजी की राष्ट्रीय भावना से भी ओत-प्रोत हो गए। शिवाजी से पहले मराठा-शक्ति मुग

मान राज्यों के हाथों में थी। कालांतर में वही शक्ति कुछ तो मुसलमान राज्यों के दुर्बल या समाप्त हो जाने से और कुछ शिवाजी जैसा नेता मिल जाने से एक राष्ट्रीय शक्ति बन गई।

मराठा शक्ति के बनने और संवृद्ध होने में महाराष्ट्र भूमि की प्रकृति का भी बड़ा भारी हाथ है। यह प्रदेश एक पहाड़ी प्रदेश है जहाँ यातायात में बहुत असुविधाएं हैं। ऐसी भूमि में आक्रमण के लिए बहुत कठिनाइयां होती हैं। मुग़ल सेनाएं मैदान की लड़ाई में तो निपुण थीं परन्तु उन्हें पर्वतीय प्रदेशों का बहुत परिचय न था। दूसरी ओर मराठों का यह अपना देश था और वे इसके चप्पे २ से परिचित थे। इस के अतिरिक्त महाराष्ट्र में स्थान २ पर दुर्ग बने हुए थे। यही दुर्ग शिवाजी की शक्ति बन गए। जैसा कि कहा जाता था, हर एक दुर्ग आसपास की जनता के लिए माता के समान था और आक्रमण के समय में शरण देता था।

बीजापुर से पूना पहुंच कर शिवाजी ने मावलियों को संगठित करके अपनी शक्ति को बढ़ाना आरम्भ किया। तोरण का किला उपेक्षित अवस्था में पड़ा था। शिवाजी ने उस पर अधिकार करके उसकी मरम्मत की। वहां से उन्हें बहुत सा धन मिल गया जिस से उन्होंने राजगढ़ का नया किला बनवाया। दादा जी कोणदेव ने यद्यपि शिवाजी को जागीर के प्रबन्ध-सम्बन्धी कार्य की शिक्षा दी थी और उन्हें व्यवहार-कुशल बना दिया था तथापि वे नहीं

चाहते थे कि शिवाजी कोई ऐसी चेष्टाएं करें जो सुलतान के विरुद्ध हों। वे यही चाहते थे कि शिवाजी राजदरबार के भक्त और एक सफल जागीरदार बनें। जब शिवाजी के शक्ति-संचय के समाचार बीजापुर दरबार में पहुंचे तो शाहजी उस समय युद्ध-सम्बन्धी कार्य के लिए-कर्नाटक में थे। सुलतान ने जब शिवाजी के सम्बन्ध में उन्हें शिकायत भेजी तो शाहजी ने यह विश्वास दिला कर कि शिवाजी जो कुछ कर रहा है उससे बीजापुर के राज्य की वृद्धि ही होगी, उन्हें शांत कर दिया। दादा जी के मरने के पश्चात् जागीर का सब प्रबन्ध शिवाजी के अपने हाथों में आ गया। शिवाजी के जागीर का काम संभालने पर कुछ पुराने सरदारों की ओर से विरोध भी हुआ परन्तु शिवाजी ने दृढ़ हाथ से दबा दिया। इन विरोध करने वालों में एक शिवाजी की विमाता का भाई भी था, जो एक किले का अधिपति था और शिवाजी की आज्ञा मानने को तैयार नहीं था। शिवाजी ने मिलने के बहाने जाकर उसे बंदी करके बीजापुर भेज दिया। अब शिवाजी स्वतंत्र थे और उन्हों ने अपनी जागीर के दुर्गों की मुरम्मत का काम आरम्भ किया, परन्तु धन का अभाव था। एक दिन शिवाजी को ज्ञात हुआ कि पास ही से शाही खज़ाना थाना से बीजापुर ले जाया जा रहा था। उन्होंने धन के अभाव की पूर्ति के लिए वह खज़ाना लूट लिया। जब तक यह समाचार बीजापुर पहुंचा, शिवाजी ने अन्य नौ किलों पर अपना अधिकार जमा लिया था।

इन्हीं दिनों एक घटना घटित हुई जिससे शिवाजी के ऊंचे चरित्र पर प्रकाश पड़ता है। इन्हीं किलों में से एक किले के मुसलमान किलेदार की बहू सैनिकों द्वारा पकड़ी गई। उसका यौवन और सौंदर्य वर्णनातीत था। जब उसे दरबार में प्रस्तुत किया गया तो शिवाजी उसके सौंदर्य को देख कर बहुत प्रसन्न हुए और बोले, "वाह, कैसा सुन्दर रूप है। यदि ऐसी ही सुन्दरी मेरी माता होती तो मैं भी बड़ा सुन्दर होता"। शिवाजी ने उसे आभूषण और वस्त्र देकर सन्मान पूर्वक उसके घर पहुंचा दिया। कहते हैं उस युवती ने चलते समय कहा, "जो राजा ऐसा चरित्रवान् और धर्मात्मा है, जिसके हृदय में स्त्रीजाति के प्रति इतना सन्मान भाव है, वह अवश्य एक दिन बड़ा आदमी बनेगा और उसके राज्य का सितारा चमकेगा।"

जब बीजापुर के सुलतान को ख़जाना लुटने और किलों के छिनने का समाचार पहुंचा तो उसने शाह जी को कैद कर लिया। अब शिवाजी एक महान् संकट में थे परन्तु उन्होंने पिता को मुक्त करवाने का एक उपाय सोचा। उस समय मुग़लों और बीजापुर में युद्ध की सम्भावना थी। शिवाजी ने मुग़ल सेनापति को लिखा कि यदि वह शाहजी के मुक्त किए जाने के लिए प्रयत्न करे तो शिवाजी बीजापुर के विरुद्ध उसे सहायता देंगे। यह राजनीतिक शतरंज की चाल थी। जब बीजापुर के सुलतान को इस बात का पता लगा तो उसने शाहजी को मुक्त कर दिया। शाहजी ने सुलतान को यह कह कर अपनी ओर से संतुष्ट कर

दिया कि शिवाजी उनकी पहली पत्नी का पुत्र है और कि वह उनकी आज्ञा में नहीं है। तदनंतर बीजापुर के सुलतान ने एक षड्यंत्र द्वारा शिवाजी को मरवाने का प्रयत्न किया, परन्तु सफलता न मिली। अब तक शिवाजी ने लगभग ४० किलों पर अधिकार जमा कर एक छोटा सा राज्य भी स्थापित कर लिया था।

शिवाजी की शक्ति को बढ़ते देख कर बीजापुर दरबार ने अफ़ज़ल-खां को भेजा कि वह शिवाजी को जीवित या मृत लेकर आए। चलते समय अफ़ज़लखां ने अहंकारपूर्वक कहा था कि वह एक ही गोली चलाए बिना शिवाजी को बंदी कर लेगा, परन्तु घटनास्थल पर पहुंच कर उसने अपने काम की कठिनता का अनुभव किया। शक्ति से कार्य की सिद्धि को कठिन समझ कर उसने कूटनीति से काम लेने की बात सोची। एक ब्राह्मण अधिकारी कृष्ण जी भास्कर को पत्र देकर शिवा जी के पास भेजा और बीजापुर राज्य के साथ संधि की बातचीत के लिए मुलाकात का प्रस्ताव किया। शिवाजी ने सब बात को समझ लिया। एकांत में, किसी अन्य की अनुपस्थिति में, मिलने का समय निश्चित हुआ। कूटनीति में शिवाजी कम नहीं थे। उन्होंने अंगरखे के नीचे कवच, पगड़ी के नीचे लोहे की टोपी और हाथ में, बघनखा धारण कर लिया। खुली जगह पर शामियाना लगा था। कुछ दूर पर पालकी रखवा कर और अपने साथियों को छोड़ कर अफ़जलखां से मिलने के लिए आगे बढ़े। दोनों गले मिले तो शिवाजी विशालकाय अफ़ज़लखां के कंधे तक ही

पहुंचे। अफ़ज़लखां ने शिवाजी का सिर एक हाथ से ज़ोर से दबाया और दूसरे हाथ से कटार से वार किया, परन्तु कवच के कारण वार निष्फल गया। शिवाजी ने अपने हाथ का बघनखा अफ़ज़लखां के पेट में घोंप दिया और वह घायल हो कर गिर पड़ा। जब उसके अंगरक्षक उसे पालकी में डाल कर चले तो छुपे हुए मराठा सैनिकों ने आक्रमण करके अफ़ज़लखां का सिर काट लिया। अफ़ज़लखां के मारे जाने पर मराठा सैनिकों ने शत्रु की सेना पर धावा बोल दिया और बहुत मार काट की। अफ़ज़लखां की सेना की बहुत सी युद्ध सामग्री शिवाजी के हाथ आई। अब शिवाजी ने समुद्र तट पर स्थित हब्शियों और दूसरे विदेशियों की बस्तियों को भी लूटा। यह सब देख कर बीजापुर के सुलतान, अली आदिलशाह, ने पूरी तैयारी के साथ शिवाजी को पराजित करने की ठानी और वह स्वयं युद्ध क्षेत्र में आया। शिवाजी की शक्ति सुलतान की शक्ति की अपेक्षा बहुत कम थी परन्तु सुलतान के पास शिवाजी की गुरिला युद्ध-प्रणाली का कोई प्रतिकार न था।

इसी युद्ध में एक बार शिवाजी, अपनी सेना के साथ, बीजापुर की एक बड़ी भारी सेना में घिर गए। सामना करके आत्म-रक्षा करना कठिन था। कुछ दूरी पर विशालगढ़ के दुर्ग में पहुँच जाने पर ही रक्षा संभव थी, परन्तु बीजापुर की बढ़ी आ रही सेना के पहुँचने से पहले दुर्ग में प्रविष्ट होना संभव

न था। शिवाजी ने अपने एक सरदार बाजीप्रभु को ७०० सैनिकों के साथ, एक तंग घाटी में, तब तक शत्रु के रोकने की आज्ञा दी जब तक वे सेना के साथ विशालगढ़ पहुँच कर तोप न चलाएं। बाजीप्रभु ने अपने स्वामी की आज्ञा का अक्षरशः पालन किया। शत्रुओं ने उस घाटी को पार करने के लिए बार २ प्रयत्न किया परन्तु बाजीप्रभु और उसके सैनिकों ने डट कर सामना किया और उन्हें पग भर आगे नहीं बढ़ने दिय। वीर मराठा सैनिक एक २ करके गिर रहे थे। घाटी मृतक शरीरों से पट गई थी। बाजी प्रभु स्वयं बुरी तरह से घायल हुए, परन्तु उन्हें अपने प्राणों की अपेक्षा स्वामी की रक्षा की अधिक चिन्ता थी। उन के कान बिशालगढ़ के किले की ओर लगे थे। इतने में विशालगढ़ से तोप का शब्द सुनाई दिया। साथ ही क्षतविक्षत बाजीप्रभु ने प्राण छोड़ दिए। मराठा इतिहास में इस लड़ाई का वैसा ही महत्त्व है जैसा यूनान के इतिहास में थर्मापली के युद्ध का।

अंततः बीजापुर के सुलतान ने शिवाजी को परास्त करना संभव न देखकर संधि कर लेने की ठानी। शाहजी ने सुलतान और अपने पुत्र में सन्धि करवाई। पिता और पुत्र का मिलन-दृश्य बहुत भावुकतापूर्ण था। जब शिवाजी ने पिता की पालकी को दूर से देखा तो आगे बढ़कर उस का एक पाया पकड़ कर साथ २ चलने लगे। पुत्र ने अपने अपराध के लिए क्षमा मांगी परन्तु पिता की आंखों से सगर्व आनंद के आंसू बह रहे थे। उन्हों ने पुत्र को उसकी सफलता पर आशीर्वाद दिया और कहा,

"तुम ने सिसोदिया वंश की बड़ाई की रक्षा ही नहीं की प्रत्युत उसे चमका दिया है। मुझे तुम्हारा पिता होने का अभिमान है।" कुछ समय पुत्र के पास रहकर शाहजी बीजापुर चले गये। कुछ ही समय पश्चात् शिकार में घोड़े से गिर कर शाहजी की मृत्यु हो गई।

अब शिवाजी का उत्साह बहुत बढ़ गया था और उन्हों ने मुगल राज्य के प्रदेशों पर हाथ मारना आरम्भ कर दिया। औरंगजेब अपने आप को राज्यसिंहासन पर स्थिर कर चुका था। जब उसने शिवाजी की बढ़ती हुई शक्ति के समाचार सुने तो दक्षिण में अपने सूबेदार शाइस्ताखां को लिखा कि मुगल सेना की इतनी शक्ति होने पर भी क्यों शिवाजी की रोक थाम नहीं की जा रही है। यह डांट सुनकर शाइस्ताखां ने शिवाजी पर आक्रमण किया और बहुत से किलों पर अधिकार जमा लिया। शिवाजी दक्षिण की ओर चले गए और शाइस्ताखां पूना के राज-महल में रहने लगा। राजपूत सरदार जसवंत सिंह भी अपनी सेना लिए शाइस्ताखां के साथ था। अब खुले युद्ध में शिवाजी मुगल शक्ति का सामना कैसे कर सकते थे? शाइस्ताखां पूना में वर्षा ऋतु गुजार रहा था। नगर के चारों ओर कड़ा पहरा था। शिवाजी ने अपनी कुछ सेना को नगर से कुछ अंतर पर छुपा दिया और स्वयं चार सौ साथियों को एक बरात के रूप में सजा कर रात के समय नगर में प्रविष्ट हो गये। जिस महल में शाइस्ताखां का निवास था, उस में शिवाजी का बचपन गुजरा था और वह

उसके कोने २ से परिचित थे। आधी रात के समय शिवाजी अपने साथियों सहित महल में प्रविष्ट हो गए और मार काट आरम्भ कर दी। रोज़ों के दिन थे और सब पेट भर खा कर गहरी नींद में सो रहे थे। जब तक हड़बड़ा कर उठे महल वालों की समझ में आया कि क्या बात है तब तक एक आक्रमणकारी अपना काम करके चलते बने थे। शाइस्ताखां का लड़का मारा गया। उसका अपना हाथ का अंगूठा कट गया। दो दासियों ने रोशनी बुझा कर और अन्धकार में अपने स्वामी को एक ओर उठा ले जाकर उसकी जान बचा ली थी। शिवाजी की सफलता से शाइस्ताखां ऐसा लज्जित हुआ कि वह शीघ्र ही पूना छोड़ कर औरंगाबाद चला गया। औरंगज़ेब को इस घटना का समाचार पहुँचा तो उसने शाइस्ताखां की जगह राजकुमार मुअज्ज़म को दक्षिण का सूबेदार बनाकर भेज दिया और राजा जयसिंह को शिवाजी के विरुद्ध लड़ने वाली सेना का सेनापति नियुक्त कर दिया।

इस अन्तर में शिवाजी ने सम्पत्ति और ऐश्वर्य के लिए प्रसिद्ध व्यापारिक नगर सूरत पर आक्रमण किया और वहां से बहुत सा धन और सामान प्राप्त किया।

राजा जयसिंह जहां एक सफल सेनापति थे वहां एक कुशल नीतिज्ञ भी थे। मुगल सेना शिवाजी के इलाके में घुसती गई और शिवाजी को दूरतक पीछे हटना पड़ा। अंततः जयसिंह ने शिवाजी को संधि के लिए तैयार कर लिया। शिवाजी को

अपना कुछ प्रदेश छोड़ना पड़ा। शेष प्रदेश में शिवाजी का अधिकार स्वीकार कर लिया गया। शिवाजी ने बीजापुर के विरुद्ध मुग़ल सेना की सहायता करना स्वीकार किया। जयसिंह ने अपनी नीति-कुशलता से शिवाजी को अपने पुत्र शम्भा जी के साथ औरंगज़ेब के दरबार में जाने के लिए भी मना लिया।

राजा जयसिंह ने शिवाजी को आश्वासन दिलाया था कि मुग़ल दरबार में उन का बहुत आदर सत्कार होगा; परन्तु जब शिवाजी राजा जयसिंह के पुत्र कुमार रामसिंह के साथ दरबार में पहुँचे और औरंगज़ेब से भेंट की तो मुग़ल सम्राट ने बैठे २ ही "आओ, शिवाजी राजा" कह कर एक ओर बैठने का संकेत किया। शिवाजी के पूछने पर कुँवर रामसिंह ने बताया कि जिस पंक्ति में उन्हें बिठाया गया था वह पंजहज़ारी सरदारों की थी। बैठने का संकेत करने के बाद औरंगज़ेब ने शिवाजी की ओर ध्यान ही न दिया। शिवाजी ऐसे व्यवहार के लिए तैयार न थे। वे अपने आवेग को सम्भाल न सके और निश्चेतन हो कर गिर पड़े। औरंगज़ेब के पूछने पर कुँवर रामसिंह ने यह कह कर टाल दिया, "शेर जंगल का निवासी है। यह दरबार का वातावरण इसके अनुकूल नहीं।" कुंवर रामसिंह शिवाजी को उठवा कर अपने मकान पर ले गए। कुँवर के पास प्रकट किए गए शिवाजी के रोष के भाव गुप्तचरों द्वारा औरंगजेब के पास पहुंचे और उसने शिवाजी के निवास स्थान पर कड़ा पहरा लगवा दिया।

अब शिवाजी और शम्भा जी, औरंगजेब के बंदी थे। शिवाजी की बुद्धि ने इस संकट से निकलने का भी उपाय सोच लिया। उन्होंने बीमारी का बहाना किया। पुण्यदान के लिए मिठाई और फलों के बड़े २ टोकरे आने लगे। पहले पहल तो पहरेदारों ने तलाशी लेकर टोकरे आने जाने दिए, परन्तु जब यह प्रतिदिन का काम हो गया तो वे बिना देखे ही गुजरने देने लगे। जब पहरे वालों को टोकरों पर कोई आशंका न रही तो एक दिन शिवाजी और शम्भा जी टोकरों में बैठ कर नगर के बाहिर पहुंच गए। शिवाजी के स्थान पर उनका एक साथी कपड़ा ओढ़े दूसरे दिन दोपहर तक लेटा रहा। उस साथी की उंगली में शिवाजी की अंगूठी पहना दी गई थी और अंगूठी वाला हाथ कपड़े से बाहिर रखा गया था, ताकि पहरेदार समझें शिवाजी सोए हैं। दूसरे दिन वह साथी भी उठ कर वैद्य के पास जाने के बहाने से निकल गया। आगरे से कुछ अन्तर पर घोड़ों का प्रबन्ध था और औरंगजेब को शिवाजी के 'जादू के बल से' निकल जाने की सूचना मिलने तक बाप बेटा मथुरा पहुँच चुके थे। वहा शिवाजी ने शम्भा जी को तो एक महाराष्ट्रीय ब्राह्मण के पास छोड़ा और स्वयं कुछ साथियों के साथ साधु वेष धारण किया। औरंगजेब ने अपने राज्य में सब ओर शिवाजी को पकड़ने के लिए आज्ञा भेजी। शिवाजी दक्षिण की ओर जाने वाले सीधे मार्ग को छोड़ कर प्रयाग, बनारस, पटना और जगन्नाथ पुरी की ओर चल दिए और गोंडवाना, गोलकुंडा और बीजापुर

से होकर अपने राज्य में पहुंच गए। मार्ग में कुछ स्थानों पर पहचाने भी गए परन्तु पहचानने वालों का मुंह धन से बंद करके बच निकलते रहे। अपने राज्य में पहुंच कर शिवाजी ने प्रसिद्ध कर दिया कि शम्भा जी मार्ग ही में मर गया है ताकि औरंगज़ेब उसे ढूंढने और पकड़ने का विचार छोड़ दे। कुछ काल पश्चात् शम्भा जी भी आ पहुंचा।

शिवाजी के इस प्रकार बच निकलने की विडम्बना को औरंगज़ेब मरते समय तक न भूल सका। उसे इस षड्यंत्र में कुँवर रामसिंह का हाथ होने का संदेह हुआ और राजा जयसिंह पर भी उसका विश्वास कम हो गया। उसने राजा जयसिंह को वापिस बुला लिया और उस की जगह राजकुमार मुअज्ज़म और राजा जसवंतसिंह को नियुक्त किया।

शिवाजी के अनुपस्थित रहने के समय उनके राज्य में सब प्रकार से शांति रही थी, यह बात उनके सुप्रबंध की और सर्वप्रिय होने की द्योतक है। शनैः २ शिवाजी ने अपने सभी पुराने दुर्गों पर अधिकार कर लिया। १६७० से १६७४ ई० तक मुगल सेना और शिवाजी में युद्ध चलता रहा। दक्षिण में मुगल अधिकार दिन प्रतिदिन दुर्बल होता जा रहा था और शिवाजी की शक्ति बढ़ती जा रही थी। अंततः मुगल साम्राज्य के पश्चिमोत्तरीय भाग में गड़बड़ को दबाने के लिय मुगल सेना का बहुत सा भाग दक्षिण से हटा लेना पड़ा।

१६७४ ई० में शिवाजी ने राजगढ़ के स्थान पर बड़े समारोह

के साथ अपना राज्याभिषेक किया। भारत के पराधीनता काल में यह एक अद्भुत घटना थी। संसार ने देखा कि मुगल साम्राज्य का पूरा विरोध होते हुए भारत के दक्षिण में एक नया हिंदू राज्य स्थापित हुआ है। हिंदुओं के हृदय उल्लास और आनंद से आप्लावित थे। पुराने विजयनगर के राज्य की स्मृतियां जागृत हो गईं। परन्तु मुग़ल राजधानी में शोक छा गया होगा।

राज्याभिषेक के पश्चात् शिवाजी के राज्य का बहुत विस्तार हुआ। विरोधी शक्तियां दुर्बल हो चुकी थीं। दक्षिण में सब ओर शिवाजी का प्रभाव फैल गया था। शिवाजी ने जिस विशाल स्वाधीन भारतीय सत्ता को स्थापित करने का स्वप्न देखा था उस की सुदृढ़ आधार शिला रखी जा चुकी थी। उस आधार पर एक महान् भवन खड़ा होने की पूरी आशा थी। मुग़ल साम्राज्य की जड़ हिल चुकी थी और शिवाजी के लिए बड़ा क्षेत्र था। परन्तु संसार में किसी महान् कार्य को सफलता की अंतिम सीमा तक पहुंचाने का श्रेय तो कदाचित् ही किसी को मिलता है। शिवाजी का राज्य दिन दूनी और रात चौगुनी उन्नति करता जा रहा था कि अप्रैल १६८० ई० में केवल ५३ वर्ष की आयु में उन के लिए मृत्यु का संदेश आ पहुंचा।

शिवाजी ने भारत के अंतःकरण में निहित स्वाधीनता की आकांक्षा को मूर्तरूप दिया। ऐसी परिस्थितियों में एक स्वतंत्र राज्य की स्थापना कर सकने वाले व्यक्ति में महान् गुणों का होना स्वाभाविक है। शिवाजी के हृदय में जहां राष्ट्रीय प्रेम और

उच्चादर्श थे वहां महान् कार्यों को सम्पन्न करने की योग्यता भी थी। यदि वे एक राज्य की स्थापना कर सकते थे तो उस का प्रबंध भी कर सकते थे। वे एक सफल सेनापति भी थे और एक सुप्रबंधक भी। शिवाजी ने हिंदू धर्म और संस्कृति की उन्नति के लिए बहुत प्रयत्न किया। मंदिरों और आश्रमों की स्थापना की। संस्कृत के अध्ययन को आर्थिक प्रोत्साहन दिया। वेदपाठी ब्राह्मण संस्कृत के विद्वान् तथा विद्यार्थी दूर २ से सहायता प्राप्त करने के लिए उनके पास आते थे। फ़ारसी के व्यावहारिक शब्दों के स्थान पर संस्कृत पर्यायवाची शब्द ढूंढने के लिए शिवाजी ने पंडितों को नियुक्त किया और राज-व्यवहार-कोष नाम के ग्रन्थ की रचना करवाई।

मुसलमान इतिहास-लेखक ख़ाफी खां ने अपनी कट्टरता के कारण शिवाजी के विरुद्ध बहुत कुछ लिखा है परन्तु उन के चरित्र के बारे में वह भी लिखता है—"परन्तु शिवाजी का नियम था कि अपने आक्रमण में उन के सैनिक स्त्रियों, धार्मिक पुस्तकों और मस्जिदों को हानि न पहुंचाएं। जब कभी उसे कुरान की कोई प्रति मिलती थी तो वह सन्मान पूर्वक उसे किसी मुसलमान के पास पहुंचा देता था। जब कोई स्त्रियां उस के हाथ पड़तीं तो उनके अपने बंधुओं के पास पहुंच जाने तक वह उन का ध्यान रखता था।........शिवाजी को अपने राज्य की जनता का बहुत ध्यान रहता था।.....यदि मुसलमान स्त्रियां या बच्चे बंदी हो जाते तो वह उन का सन्मान करता था। इस

सम्बंध में उस की आज्ञाएं बहुत कड़ी थीं और यदि कोई व्यक्ति आज्ञाओं का उल्लंघन करता था तो उसे दंड मिलता था।"

गुरु गोविंद सिंह

पराधीनता के लम्बे युग के प्रायः मध्य-काल में, ईसा की पंद्रहवीं सोलहवीं शताब्दी में, भारत में एक आध्यात्मिक जागरण का आविर्भाव हुआ। भारत की वही प्राचीन आध्यात्मिकता, देश और काल के अनुसार नए रूपों में प्रकट हुई। पंचनद प्रान्त में इस जागृति के प्रतीक थे गुरु नानक देव। उन्होंने ईश्वर-भक्ति का, सार्वभौम प्रेम का, विशाल धर्म का, संदेश दिया। उनके संदेश में कोई साम्प्रदायिक रंग न था। उनका संदेश मनुष्य-मात्र के लिए था। उनके शिष्यों में हिंदू भी थे और मुसलमान भी। गुरुनानक ने भारत में और कुछ अन्य देशों में भी भ्रमण किया और अपने प्रेम-संदेश का प्रचार किया।

गुरु नानक के पश्चात् वही भक्तिधारा गुरु अंगद, गुरु अमरदास, गुरु रामदास और गुरु अर्जुन देव के गुरुत्व-काल में अपने शांत रूप में बहती रही। भक्ति रस के पिपासु आते थे और इस स्वच्छ शीतल सरिता में अपनी पिपासा को शांत करते थे। संसार की आधि व्याधियों से संतप्त हृदयों के लिए गुरुद्वार एक अलौकिक शान्ति का भंडार था। गुरु महाराज भी स्थान २ पर भ्रमण करके जलपूर्ण मेघ के समान संतप्त जनता पर भक्ति की वर्षा करते फिरते थे। पांचों गुरुओं की एक ही शिक्षा और एक ही शैली थी। उन की शिक्षा सूर्य और चांद की ज्योति के समान सकल संसार के लिए थी—

बिसर गई सब तात पराई, जबते साध संगत मैं पाई ।
न कोई वैरी, न है बेगाना, सकल संग हम को बन आई ।।

गुरु अर्जुन देव ने जब आदि-ग्रन्थ की रचना की तो उस में न केवल अपनी और अपने पूर्वज गुरुओं ही की वाणी को स्थान दिया, प्रत्युत बहुत से अन्य महात्माओं की, जिन में मुसलमान भी थे, रचनाओं को भी संगृहीत किया। यही भक्ति-रस और प्रेम-भाव का स्रोत, आदि-ग्रन्थ आज भी सिक्ख धर्म की आधार शिला है। बहुत से मुसलमान फ़कीरों के साथ भावों की समानता के कारण सिक्ख गुरुओं की मैत्री और बंधु भावना थी। मुग़ल राज्य के आरम्भ से लेकर कुछ समय तक यह सत्संग की धारा निर्विघ्न रूप से प्रवाहित रही परन्तु गुरु अर्जुन देव के समय में मुग़ल दरबार तथा अधिकारियों की ओर से इस धारा के मार्ग में विघ्न उपस्थित किए जाने लगे। लाहौर में गुरु अर्जुनदेव के बलिदान ने इस धारा को परिवर्तित कर दिया। तत्पश्चात् इस आध्यात्मिक शिक्षा के साथ क्षात्र-वृत्ति का समन्वय होने लगा। छठे गुरु हर गोविंद के समय में सिक्खों में क्षात्र-धर्म का संचार होना आरम्भ हो गया। सातवें गुरु हर-राए के समय में शान्ति रही। जबआठवें गुरु हरकिशन की बहुत अल्प आयु में मृत्यु हो गई तो गुरु-गद्दी के अधिकार के सम्बन्ध में मतानैक्य हो गया। अंततः शिष्य मंडल ने गुरु तेग़ बहादुर को नवम गुरु स्वीकृत किया। परन्तु गद्दी के एक आकांक्षी रामराए नवम गुरु के विरोधी बन कर मुग़ल दरबार को

सहायता से गुरु जी को हानि पहुंचाने का प्रयत्न करने लगे।

औरंगज़ेब के राजत्व काल में मुग़ल दरबार की धर्मसम्बन्धी नीति बहुत संकीर्ण हो गई थी। भारत के बहुत से राजा महाराजा मुग़ल राज्य की अधीनता स्वीकार कर चुके थे और किसी राष्ट्रीय आंदोलन का समर्थन करने से हिचकिचाते थे। तत्कालीन पंजाब के पर्वतीय प्रदेश में, आधुनिक हिमाचल प्रदेश और कांगड़ा के ज़िले में, कई छोटी २ हिन्दू रियासतें थीं और यही प्रदेश मुसलमानी प्रभाव से कुछ सुरक्षित रहा था। गुरु तेग़ बहादुर ने भी वातावरण को देख कर इसी पर्वतीय प्रदेश में आनन्दपुर नाम के स्थान को अपने निवास के लिए निश्चित किया। पर्वतीय प्रदेश में आक्रमणकारी का कार्य अधिक कठिन हो जाता है और स्थानीय सत्ता को आत्म-रक्षा करना सुविधा-जनक होता है। उस समय तक सिक्ख गुरुओं का निवास स्थान मैदान ही में रहा था। परन्तु अब परिस्थिति बदल गई थी और सिक्खों को क्षात्र-धर्म में प्रवृत्त होना था। यही आनन्दपुर दशम गुरु गोविन्द सिंह के आरम्भिक जीवन का क्रीड़ा-स्थल था।

बालक गोविन्द का जन्म पटना में १६६६ ई० में हुआ। गुरु तेग़ बहादुर आसाम की ओर जा रहे थे और वे परिवार को पटना छोड़ गए। यहीं माता गूजरी के हां गोविन्द का जन्म हुआ। आसाम से लौटते हुए गुरु साहिब कुछ दिन पटना में रहे और फिर परिवार को वहीं छोड़ कर आनन्दपुर चले गए। पटना में बालक गोविन्द सर्वप्रिय था। एक तो गुरु

साहिब की संतान और दूसरे सुन्दर और होनहार, सारा नगर अनुरक्त था। गोविन्द की आयु पांच वर्ष की थी जब पिता ने उसे परिवार के साथ आनन्दपुर बुला लिया। बाल गोविन्द और गुरु के परिवार को विदा करते समय पटना की संगत की आंखें अश्रुप्लावित थीं परन्तु सब गुरु की आज्ञा के आगे नतमस्तक थे।

आनन्दपुर में गोविन्द की शिक्षा दीक्षा का प्रबन्ध किया गया। उसे धार्मिक तथा अस्त्र-शस्त्र सम्बन्धी विद्या दी जाने लगी। बालक को युद्ध सम्बंधी शिक्षा और मृगया आदि वीरोचित क्रीड़ाओं में बहुत रुचि थी।

उन दिनों काश्मीर के मुसलमान शासकों द्वारा वहां के हिन्दुओं पर बहुत अत्याचार हो रहे थे और उन्हें मुसलमान होने के लिए बाधित किया जा रहा था। बहुत से काश्मीरी हिन्दू तंग आकर अपने धर्म को छोड़ भी चुके थे। जब अपने धर्म में दृढ़ रहने पर संकटों का सामना हो और अपने धर्म का त्याग करने मात्र से सुख समृद्धि के द्वार खुल जाते हों तब वही व्यक्ति स्थिर रह सकते हैं जिन के अन्दर श्रद्धा और आस्था हो, जिनके अंतःकरण में वास्तविक धर्म की कोई ज्योति आविर्भूत हो और जिन्हें अपने जीवन में धर्म का कोई साक्षात् आधार प्राप्त हुआ हो। गुरु तेग़बहादुर के कुछ काश्मीरी श्रद्धालु आनन्दपुर आकर उन्हें मिले और उन्होंने गुरु जी के पास अपने संकटों का वर्णन किया। गुरु महाराज ने उनकी करुण कथा सुनकर कहा कि पाप की नाव के भर कर डूबने के लिए किसी महापुरुष के बलिदान

की आवश्यकता है । कहते हैं कि बालक गोविन्द ने पिता के वचनों को सुन कर कहा था, "पिता जी, आप से बढ़ कर धर्म-रक्षक अन्य कौन होगा।" गुरु तेग़बहादुर बच्चे के शब्द सुन कर प्रसन्न हुए और उन्हों ने आगंतुक लोगों को कहा, "तुम अपने अधिकारियों से कहो कि यदि हमारे नेता गुरु तेग़बहादुर मुसलमान हो जाएं तो हम स्वयमेव हो जाएंगे।"

गुरु जी के शत्रुओं ने उनकी बहुत सी शिकायतें औरंगज़ेब के पास पहुँचा दी थीं। एक दिन मुग़ल दरबार से गुरु जी के देहली बुलाए जाने की आज्ञा आई। गुरु जी जानते थे कि परिस्थितियां कैसी हैं। उन्होंने बालक गोविन्द को अंतिम उपदेश दिया और अपने पाँच विश्वस्त शिष्यों के साथ देहली को प्रस्थान किया। औरंगज़ेब के साथ गुरु जी की लम्बी बातचीत हुई और अंततः सम्राट् ने उन्हें और उन के साथियों को इस्लाम स्वीकार करने को कहा। जब उन पर सम्राट् के प्रलोभनों और भयप्रदर्शन का कोई प्रभाव न पड़ा तो उसने एक २ करके गुरुजी के पांचों साथियों को कष्ट दे दे कर मार डाला और अंततः चांदनी चौक में, जहां इस समय गुरुद्वारा शीशगंज स्थित है गुरुतेग़बहादुर का सीस कटवा दिया। नवम गुरु के इस बलिदान से हिन्दुमात्र में और विशेषतः सिक्खों में प्रतिशोध की भावना उत्पन्न हो गई। भारतवर्ष का प्राचीन सिद्धांत है कि पाप से स्वयं पापी दुर्बल हो जाता है और बलिदान से शक्ति और स्फूर्ति उत्पन्न होती है। प्राचीन इतिहास में हमें कई उदा-

हरण मिलते हैं कि ऋषियों और देवताओं ने किसी पापी के विनाश-काल को समीप लाने के लिए उस से कोई घोर अत्याचार करवाया। गुरु तेगबहादुर का बलिदान उसी प्राचीन सिद्धांत का एक उदाहरण है।

जब गुरुजी और उनके साथियों के बलिदान का समाचार आनन्दपुर पहुंचा तो दशम गुरु गोविंद सिंह और सिक्खों के अन्दर एक नया जीवन उत्पन्न हो गया। वीरता की मृत्यु भी जीवन-दायिनी होती है। दो वीर सिक्ख देहली से गुरु-तेगबहादुर का सीस लाए और उस का समुचित दाह-कर्म किया गया। हिंदूजाति के अधः-पतन की पराकाष्ठा को देख कर गुरु गोविंद जी ने इस के पुनरुत्थान का कार्यक्रम निश्चित किया। अब तक सिक्ख पंथ प्रधानतया एक आध्यात्मिक सम्प्रदाय था। गुरु गोविंद ने इसे क्षात्र भावना से विभूषित करने की ठानी। आध्यात्मिक विश्वास से युक्त मनुष्य को वीर योधा बनाना कठिन नहीं है। जिसे आत्मा की अमरता और शरीर की नश्वरता का विश्वास है, वह मरना तो पहले ही जानता है। और युद्ध में मारने की अपेक्षा मरना ही अधिक कठिन कार्य है। अतः सिक्ख लोग, शिष्य-वर्ग, जिन्हें गुरु नानक से लेकर आध्यात्मिक शिक्षा मिलती रही थी और जो गुरु के लिए जीवन न्योछावर करना सौभाग्य समझते थे, आदर्श क्षत्रिय बनने की योग्यता रखते थे।

गुरु जी ने अपने शिष्यों में घोषणा कर दी कि भेंट के

रूप में लाए गए धन की अपेक्षा अस्त्र-शस्त्र और युद्ध सामग्री अधिक ग्राह्य होगी। फिर क्या था, चारों ओर से युद्ध का सामान आनंदपुर की ओर आने लगा। आनन्दपुर में सिक्खों को अस्त्र-शस्त्र चलाने और युद्ध विद्या की शिक्षा मिलने लगी। आनंदपुर में जहां सायंप्रातः गुरुवाणी का पाठ भी होता और आध्यात्मिक अभ्यास भी किया जाता, वहां दिन में क्षत्रियोचित शिक्षा और आखेट का प्रबन्ध भी था। स्वयं गुरु जी को मृगया में बहुत रुचि थी।

इसके अतिरिक्त गुरुजी ने अपने शिष्यवर्ग के अन्दर संस्कृत के अध्ययन के प्रति रुचि उत्पन्न की। उन्हों ने अपने बहुत से शिष्यों को संस्कृत पढ़ने के लिए काशी भेजा। आनंदपुर में भी कई विद्वान् पंडितों को रक्खा।

इन्हीं दिनों आसाम का नवयुवक राजा रत्नराए गुरुजी से मिलने के लिए आनंदपुर आया और छः सात मास गुरुजी के पास रहा। गुरुजी की भेंट के रूप में जो वस्तुएं वह लाया था, उन में एक अद्भुत हाथी भी था, जो अपनी सूंड से कई क्रीड़ाएं कर सकता था।

यद्यपि गुरु जी को धर्म के तत्त्वों पर बहुत श्रद्धा थी तथापि वे झूठी और कपोल-कल्पित बातों का भांडा फोड़ना चाहते थे। उनके पास कालिदास नाम का एक पंडित रहता था जिस से वे शास्त्रों की बातें सुना करते थे। वह पंडित बहुत अभिमान-पूर्वक कहा करता कि यदि पूर्णरूप से अनुष्ठान

किया जाय तो वह चंडी को प्रकट कर सकता है। उसके बार २ ऐसा कहने पर गुरु जी ने यज्ञ के अनुष्ठान का पूरा प्रबन्ध कर दिया। काशी से विद्वान् पंडित बुलाए गए और सब प्रकार की सामग्री संगृहीत की गई। कहते हैं कि गुरुजी ने दो लाख मुद्राएं व्यय कर दीं और वे परीक्षार्थ और अधिक व्यय करने के लिए तत्पर थे। यज्ञ आरम्भ हुआ और बहुत दिनों तक होता रहा। जब चंडी प्रकट न हुई और गुरु जी ने कालिदास से कारण पूछा तो पंडित ने कहा कि चंडी मनुष्य की बलि चाहती है। गुरुजी ने इस बात को एक बहाना समझ कर अपनी तलवार निकाली और कालिदास से कहा, "तो आप से बढ़ कर श्रेष्ठ व्यक्ति कौन होगा जिस की बलि से चंडी प्रसन्न होगी।" गुरु जी की इस बात से पंडित घबरा गया।

गुरु जी का विवाह लाहौर-निवासी हरियश क्षत्रिय की गुणवती और सुलक्षणा सुपुत्री से हो गया था।

जब गुरु जी के पास अस्त्र-शस्त्र और धन का संग्रह हो गया तो उन्होंने अपने शिष्यों में से सच्चे क्षत्रिय वीर योधा उत्पन्न करने के लिए एक आयोजन किया। १६९९ ई० में आनन्दपुर के पास केशगढ़ में वैसाखी का मेला था और दूर २ से संगत एकत्रित हुई थी। गुरुजी ने वहां पास ही एक स्थान पर कनातों का परदा करके ऊपर सुन्दर शामियाना लगवाया था। संगत बैठी, गुरु जी के आगमन की प्रतीक्षा कर रही थी कि इतने में गुरु जी नंगी तलवार लिए, आंखें रक्त-रंजित किए, मानों

वीररस की मूर्ति बने, उस शामियाने से सभा में आए । उनके उस दिन के असाधारण रूप को देख कर संगत आश्चर्य-चकित रह गई । गुरुजी ने आते ही कहा, "आज चंडी बलि चाहती है । जो सिर देने को तैयार हो वह आगे आए ।" शिष्य वर्ग में सन्नाटा छा गया और लोग एक दूसरे के मुख की ओर देखने लगे । परन्तु जब गुरु जी ने अपने वचनों को दोहराया तो दयाराम नाम का शिष्य उठा । गुरु जी उसे अपने साथ उस शामियाने में ले गए और संगत ने सिर कटने का शब्द सुना । थोड़ी देर में गुरु जी रक्त-रंजित खड्ग लिए फिर आए और सिर की मांग की । अब धर्मदास नाम का शिष्य उठा । उसे भी गुरु जी शामियाने में ले गए । सिर कटने का शब्द हुआ और पुनः गुरु जी रक्त से भरी तलवार लिए आए । इसी तरह एक २ करके वे पांच शिष्यों को ले गए । यह सब देख २ कर शिष्य-वर्ग चकित था । बहुत से लोग तो गुरु जी को उन्मत्त हो गए समझ रहे थे ।

कुछ काल पश्चात् गुरु जी अपने साधारण वेष और आकार के साथ प्रसन्नवदन, मुस्कराते हुए सभा मंडप में आए । वे पांचों शिष्य, नए वस्त्रों को धारण किए हुए, तेजस्वी मुखाकृति के साथ, पीछे २ आ रहे थे । देख कर लोगों का आश्चर्य और भी बढ़ गया । यह तो परीक्षा थी । संगत में से पांच वीर तथा आत्मबलिदान के लिए कटिबद्ध शिष्यों को चुनना था । वास्तव में शामियाने के नीचे पांच बकरे बंधे थे और उन्हीं के रक्त से

रंजित तलवार संगत ने देखी थी।

इस प्रकार वैसाखी के दिन गुरु जी ने संगत में से पांच प्यारे चुने। मिसरी को पानी में घोल कर और कृपाण से हिला कर अपने हाथ से अमृत तैयार किया और पांच प्यारों को पिला कर खालसा पंथ की आधारशिला रखी। फिर स्वयं पांच प्यारों के हाथ से उसी अमृत का पान किया। उन्हें उपदेश देते हुए कई नियम निर्धारित किये, जिन को पालन करते हुए वे चरित्रवान् वीर योधा, धर्म रक्षक और देश-सेवक बन सकें और साथ ही आध्यात्मिक उन्नति की ओर से उदासीन न हों। उन्हें विशेष प्रकार का वेष पहनने और विशेष चिह्न धारण करने की आज्ञा दी। उन के नाम के साथ 'सिंह' शब्द लगा दिया और अपना नाम भी इसी नियम के अनुसार 'गोविन्दसिंह' कर लिया। पांचों प्यारे भिन्न २ जातियों के थे। एक खत्री जाति में से था और दूसरा जाट; अन्य तीनों शूद्र और नीची कही जाने वाली जातियों में से थे। उन में पंजाब से बाहिर के प्रांतों के निवासी भी थे। गुरु साहिब ने उन सब को एक साथ भोजन कराया और इस तरह ऊंच नीच और छूत-छात के भाव को मिटा कर एक भ्रातृमण्डल स्थापित कर दिया। यह भारतवर्ष का दुर्भाग्य रहा है कि छूतछात और ऊंच नीच के भावों के कारण सहस्रों वर्षों तक देश राष्ट्रीयता की भावना से वंचित रहा है। नीची कही जाने वाली जातियों को पददलित किया गया और उन के अन्दर से देश रक्षा का भाव नष्ट कर दिया गया।

वास्तव में यही जातियां राष्ट्र की शक्ति को बढ़ाने वाली होती हैं। ऐसी ही जातियों में से शिवा जी ने अपनी सेना का संगठन किया था। इसी तरह उन जातियों को मिला कर गोविन्दसिंह ने खालसा शक्ति का संगठन किया। शनैः २ शिष्यवर्ग में से बहुत से लोग अमृत पान करके खालसा बनने लगे। इस नई विचारधारा के प्रचार के लिए गुरु जी ने दीक्षित शिष्यों को बाहिर भेजा। मुग़ल साम्राज्य की जड़ों को हिलाने के लिए खालसा सेना की शक्ति बढ़ने लगी।

भारत में जब कोई ऐसा राष्ट्रीय आंदोलन चलता रहा है, तो बहुत से ब्राह्मण तथा उच्चवर्ण के लोग विरोध करते रहे हैं। जो लोग केवल जन्म के कारण बड़ा बनना चाहते हैं और दूसरों को अपनी सेवा के लिए अपने अधीन रखने के अधिकार को छोड़ना नहीं चाहते, उन से और आशा ही क्या हो सकती है? ब्राह्मणों और राजपूतों में अधिक संख्या ऐसे लोगों की थी जो गुरु जी के जाति-पांति के भेदभाव को नष्ट करने के प्रयत्न को पसंद नहीं करते थे। पहाड़ी राजा एक तो ब्राह्मणों के प्रभाव से कट्टर होने के कारण गुरु जी के इस आयोजन से भड़क उठे और कुछ गुरु जी की शक्ति को बढ़ते देख कर ईर्ष्या से जलने और भय मानने लगे। वे गुरु जी के पास आए परन्तु उनके तेज के सामने कुछ कह न सके। गुरु जी ने उन्हें अपने राष्ट्रीय कर्तव्य का स्मरण कराया, परन्तु उन पर उलटा ही प्रभाव पड़ा। उनमें से कई तो मुग़ल दरबार को उन के विरुद्ध सूचित करने को

उद्यत हो गए। गुरु जी समझते थे कि उन्हें न केवल मुसलमान सत्ता के विरुद्ध लड़ना होगा प्रत्युत इन राजाओं के विरोध को भी सहन करना होगा। भारत का दुर्भाग्य है कि जब भी कोई महापुरुष पराधीनता की बेड़ियों को काटने के लिए उठा है तो उसे अपने देशवासियों की ओर से काफ़ी विरोध सहन करना पड़ा है।

आनन्दपुर, जहां गुरु जी का निवास था, राजा भीमचन्द के राज्य में था। यद्यपि वह भूमि गुरु तेग़ बहादुर ने मूल्य देकर ली थी तथापि राजा भीमचंद गुरु जी को अपनी प्रजा समझता था। जब गुरु जी का ठाठ-बाट बढ़ने लगा तो उस के हृदय में ईर्ष्या उत्पन्न हुई। गुरु जी नगाड़े की चोट के साथ शिकार को जाते तो राजा भीमचंद इसे अपना अपमान समझता। एक दिन राजा ने आकर गुरु जी के दरबार को देखा तो वह चकित रह गया। कुछ समय पश्चात् भीमचंद ने अपने पुत्र के विवाह के अवसर पर गुरु जी से वही हाथी मांगा जो आसाम के राजा ने इन्हें भेंट दिया था। गुरु जी राजा की मनोभावना को जानते थे और उन्होंने वह हाथी न देकर एक दूसरा हाथी देना चाहा। राजा रुष्ट हो गया और अपने सम्बन्धी फत्तेशाह और अन्य राजाओं की सहायता से युद्ध के लिए उद्यत हो गया। नाहन के राजा मेदिनी प्रकाश की फत्तेशाह के साथ शत्रुता थी और उसने गुरु जी से सहायता मांगी। अंततः भीमचन्द और उसके साथियों को युद्ध में सफलता की आशा न रही और युद्ध बन्द करना पड़ा।

राजा मेदिनी प्रकाश ने गुरु जी को अपने राज्य में भूमि दे दी। वहाँ पर गुरु जी ने एक किला बनाया और वहीं रहने लगे। वह स्थान यमुना नदी के किनारे पर था और उसका नाम आज 'पांटा साहिब' प्रसिद्ध है।

विलासपुर का राजा भीमचन्द हृदय से गुरु गोविंद सिंह का शत्रु था। वह नहीं चाहता था कि उस के राज्य में स्थित आनंदपुर में रहने वाले गुरुजी की शक्ति उसकी अपनी शक्ति से बढ़ जाए। गुरुजी के ऐश्वर्य और तेज को देख कर उसका हृदय ईर्ष्या की अग्नि में जलता था। परन्तु उस में गुरुजी का सामना करने की भी शक्ति न थी। कभी कभी वह अन्य पहाड़ी राजाओं को गुरुजी के विरुद्ध उकसा कर किसी बहाने से युद्ध छेड़ लेता और कभी संधि करने ही में अपना कल्याण समझता। पहाड़ी राजाओं में पारस्परिक फूट थी। अतः यदि कुछ राजा भीमचन्द के साथ मिल जाते तो कुछ गुरुजी के सहायक बन जाते। इस के अतिरिक्त एक बड़ी भारी सेना के साथ भी मुट्ठी भर सिक्खों को पराजित करना आसान न था क्योंकि सिक्ख सेना का एक २ व्यक्ति अपने गुरु के लिए सर्वस्व देने पर तुला था। गुरुजी चाहते थे कि इन राजाओं के अंदर कुछ देश-प्रेम जागृत हो और ये राष्ट्र की स्वाधीनता के लिए कुछ काम करें। कभी २ कुछ राजा लोग गुरुजी की उच्च भावना का अनुगमन करने की इच्छा भी करते परन्तु उन के अन्दर उत्साह और साहस की कमी थी और उनकी यह सदिच्छा बहुत देरतक

टिक नहीं पाती थी। इसके प्रतिकूल गुरु गोविंद सिंह की बढ़ती हुई शक्ति के प्रति ईर्ष्या के भाव ही उनके हृदयों में अधिक स्थायी थे।

भीमचन्द और उसके साथी राजाओं ने जब अपनी सम्मिलित शक्ति से गुरुजी को परास्त करना अशक्य समझ लिया तो जम्मू, लाहौर तथा सरहिंद के सूबेदारों की ओर स्वयं औरंगजेब की सहायता लेनी आरम्भ की। एक बार इन राजाओं की बीस हज़ार अपनी सेना और दस हज़ार मुगल सेना के विरुद्ध पांच छः हज़ार सिक्खों ने युद्ध में सफलता प्राप्त की। मुसलमान सेनापति सिक्खों की वीरता को देख कर उंगलियां मुँह में दबाते थे। इन लड़ाइयों में सैय्यद बुद्धू शाह और उसके बेटों ने गुरुजी के पक्ष में कई लड़ाइयां लड़ीं।

एक बार जबकि युद्ध शांत था, और गुरुजी थोड़े से साथियों के साथ कुरुक्षेत्र की ओर आए हुए थे, दस हज़ार मुसलमान सेना ने उन्हें घेर लिया। चमकौर नाम के स्थान पर युद्ध संघर्ष हुआ। गुरुजी के थोड़े से सैनिकों ने उस बड़ी भारी सेना का सामना किया। उधर समाचार पाकर आनंदपुर से पांच छः सौ सिक्ख सैनिक गुरुजी की सहायता को चले आए। फिर क्या था मुसलमान सेना को मुंह की खानी पड़ी।

यह वह समय था जबकि मुग़ल साम्राज्य की सत्ता को नष्ट करने के लिए भारत में स्थान २ पर राष्ट्रीय शक्तियां उत्पन्न हो रही थीं। दक्षिण में शिवाजी के नेतृत्व में मराठा शक्ति बढ़ती

चली जा रही थी। राजस्थान में राजा राजसिंह औरंगज़ेब को ललकार रहा था। इधर पंजाब में गुरुगोविंद सिंह हिंदू जाति में क्षात्र-धर्म का संचार कर के एक सैनिक संगठन का निर्माण कर रहे थे।

औरंगज़ेब ने जब मुग़ल सेना के बार २ पराजित होने के समाचार सुने तो उसे बड़ा क्रोध आया और उसने लाहौर और सरहिंद के सूबेदारों को अपनी पूरी शक्ति के साथ गुरु-गोबिन्दसिंह पर आक्रमण करने के लिए लिखा। दोनों सूबेदारोंने सम्राट् की आज्ञा पाकर और सेना संग्रह कर के आनंदपुर को आ घेरा। यद्यपि सिक्ख सेना बहुत थोड़ी थी और मुग़ल सेना बहुत अधिक, तथापि सिक्खों ने ऐसी वीरता से दुर्ग की रक्षा की कि मुग़ल सेनापति और सैनिक आश्चर्यान्वित थे। आनंदपुर दुर्ग की तोपों ने मुग़ल सेना का बहुत नाश किया। मुगलों ने जब देखा कि आक्रमण करके दुर्ग पर अधिकार करना उन की शक्ति से बाहिर है तो वे चारों ओर से दुर्ग को घेर कर बैठ गए और प्रतीक्षा करने लगे कि कब किले वालों की भोजन सामग्री समाप्त हो। सिक्ख अपनी तोपों से भी मुग़ल सेना का नाश करते थे और अवसर पाकर दुर्ग से बाहिर निकल कर भी मार काट कर जाते थे। परन्तु सभी ओर से यातायात के मार्ग कट जाने से सिक्ख सेना का बारूद और भोजन का सामान कब तक चल सकता था। शत्रु ने सब प्रकार की हानि सहन कर के भी घेरा न उठाने का मानों प्रण कर लिया था। अंततः सिक्ख सेना की अवस्था

निराशाशाद हो गई। जब न युद्ध सामग्री रही हो और न खाद्य सामग्री तो दुर्ग की रक्षा कब तक हो सकती थी। मुग़ल सेनापति बार २ लिख कर भेज रहे थे कि यदि गुरुगोबिंद और उन के साथी किला छोड़ कर जाना चाहें तो वे उन्हें जाने देंगे, परन्तु गुरुजी को उनके वचनों पर विश्वास नहीं था। क्षुत्पिपासाकुलित बहुत से सिक्ख सैनिक दुर्ग छोड़ कर निकल जाना ही उचित समझते थे।

अंततः जब किसी ओर से समयानुकूल सहायता की आशा न रही और साथी भी आनंदपुर छोड़ देने के लिए बहुत आग्रह करने लगे तो एक अंधकारमयी रात्री में गोविंदसिंह शत्रु को असावधान पाकर, अपने परिवार और बचे खुचे सैनिकों सहित निकल कर चल दिए। वे एक नदी को पार कर रहे थे कि शत्रु ने आक्रमण कर दिया। उस गड़बड़ में गुरुजी की माता और दो छोटे राजकुमार तो कुछ रक्षकों सहित एक दिशा में चले गए, गुरुजी की दोनों पत्नियां एक दूसरी दिशा में चली गईं और गुरुजी स्वयं कुछ साथियों सहित बचकर चमकौर के दुर्ग में पहुँच गए। चमकौर में कुछ सिक्ख सेना पहले से थी। जब मुगलों को गुरुजी के चमकौर पहुँच जाने का पता लगा तो उन्होंने उस दुर्ग को भी आ घेरा। आनंदपुर में मुग़ल सेना के हाथ कुछ भी नहीं लगा था और उन के प्रयत्नों का कोई लाभ नहीं हुआ था। चमकौर में भी सिक्खों ने मुग़लों को बहुत हानि पहुँचाई परन्तु यहां भी मुग़ल सेना दूसरा कोई उपाय न देख कर

किले को घेर कर बैठ गई। शनैः २ दुर्ग वालों की शक्ति क्षीण होने लगी और दुर्ग में बारूद तथा खाद्य-सामग्री का अभाव होने लगा। उस समय सिक्ख वीरता की इतिहास-प्रसिद्ध पराकाष्ठा के कई उदाहरण उपस्थित हुए। गुरुजी के बड़े पुत्र अजीतसिंह ने, जिसकी आयु केवल १८ वर्ष की थी, दुर्ग से बाहर जाकर शत्रु पर आक्रमण करने के लिए पिता से आज्ञा प्राप्त की। वह नवयुवक कुछ ही साथियों के साथ मुग़ल सेना पर सिंह के समान टूट पड़ा। गुरुजी दुर्ग की चोटी से अपने पुत्र की वीरता देख रहे थे। आखिर चन्द व्यक्ति सहस्रों योधाओं से कब तक लड़ते। तलवारों के जौहर दिखा कर सब के सब वीरगति को प्राप्त हुए। फिर गुरुजी के दूसरे पुत्र जुझारसिंह ने जिस की आयु केवल १४ वर्ष की थी, पिता से आक्रमण की आज्ञा ली। गुरु की आंखों के सामने लड़ते हुए उस वीर युवक ने भी प्राण दिए और वंश तथा जाति के नाम को उज्ज्वल किया। अब गुरु जी स्वयं अपने साथियों के साथ दुर्ग से निकल कर शत्रु पर टूट पड़ने को तत्पर हुए, परन्तु साथियों ने उन्हें बच कर निकल जाने के लिए अनुरोध करते हुए प्रार्थना की, "आप ने खालसा को जन्म देते हुए कहा था कि आप स्वयं खालसा की इच्छा का आदर करेंगे। अब हमारी यही इच्छा है कि आप यहां से निकल जाएं। आप के रहते सब कुछ सुरक्षित है। हम आप को अपनी जान जोखों में नहीं डालने देंगे। हम ने आप को निकाल ले जाने का उपाय सोच लिया है।" गुरुजी ने जब अपने

सिक्खों के आग्रह को देखा तो उन की बात को स्वीकार करने के अतिरिक्त चारा न था। एक अंधेरी रात में कुछ सिक्खों ने दुर्ग से निकल कर एक ओर शोर मचा दिया कि गुरु गोबिंद भागे जा रहे हैं। मुगल सेना उस ओर को पिल पड़ी और गुरु जी दूसरी ओर से निकल गए। उस अंधकार में बहुत सी मुगल सेना आपस ही में कट मरी।

गुरु जी दो चार साथियों के साथ बच कर माछीवाड़ा नाम के स्थान पर पहुंचे। वहां से दो मुसलमानों ने, जो गुरु जी के श्रद्धालु थे, उन सिक्ख साथियों के साथ, मुसलमानी-भेस में, गुरु जी को एक पालकी में बिठाया और अपना पीर कह कर, पालकी उठा कर चलने लगे। रायकोट पहुंच कर गुरु जी को समाचार मिला कि उनके दोनों राजकुमार, जोरावरसिंह और फ़तहसिंह, जो माता गूजरी जी के साथ थे और मार्ग में गुरु जी से बिछुड़ गए थे, सरहिंद के सूबेदार की आज्ञा से इस्लाम स्वीकार न करने पर दीवार में चिनवा दिए गए हैं और कि माता गूजरी जी ने उनकी मृत्यु के पश्चात् प्राण त्याग दिए हैं। गुरु जी के साथी और शिष्य यह समाचार सुन कर बहुत रोये, परन्तु गुरु जी ने शांत भाव से उस दुःख को सहन करके अपने अगाध धैर्य का परिचय दिया। कुछ काल पश्चात् गुरु जी की दो पत्नियां, माता सुन्दरी और माता साहिब कौर, जो आनन्दपुर से भागते समय गुरु जी से बिछुड़ गई थीं, और पुरुष वेष बना कर दिल्ली की ओर चली गई थीं, उनसे आ मिलीं। चारों पुत्रों के बलिदान का

समाचार सुन कर उन के हृदयों पर जो गुज़री होगी, इसे कोई माता ही जान सकती है। परन्तु गुरु जी ने उन्हें आश्वासन देते हुए, अपने सिक्खों की ओर संकेत करके कहा—

इन पुत्रन के कारणे चार दिए सुत वार .
चार दिये तो क्या हुआ, जीवत कई हज़ार।।

मुग़ल-सेना बराबर गुरु जी का पीछा कर रही थी। मुक्तसर के स्थान पर फिर मुठभेड़ हो गई। एक शुष्क सरोवर के किनारे युद्ध हुआ। कुछ सिक्ख, जो आनन्दपुर से गुरु जी का साथ छोड़ कर चले गये थे और जो अपने इस पाप का प्रायश्चित्त करने के लिए अब जानें हथेली पर रख कर आए थे, मुग़लसेना से लड़े। गुरु जी के साथ भेंट होने से पहले ही वे युद्ध में कूद पड़े और सब के सब शत्रु का विनाश करते हुए मारे गये। जब मुग़ल सेना का अधिकार उस सरोवर पर हुआ तो उसे सूखा पा कर निराश हुई। मुग़लों को ज्ञात हुआ कि दस २ कोस तक कहीं पानी नहीं मिलेगा। यह देखकर मुग़ल सेना युद्ध-क्षेत्र को छोड़ कर चल दी और कई मील तक सिक्खों ने उसका पीछा किया। जब गुरु जी अपने क्षत-विक्षत और हताहत सिक्खों को युद्ध-भूमि में देखने आए तो प्रायश्चित्तरूप प्राण देने वाले उन चालीस सिक्खों में से एक के प्राण अभी शेष थे। गुरु जी ने स्नेह के साथ उसे अपनी अंतिम इच्छा बताने के लिये कहा। उस सिक्ख नेक्षीण हो रही अपनी शक्ति को बटोर कर रुद्ध कंठ से कहा, "आनन्दपुर छोड़ते समय जो त्याग-पत्र हम लिख कर दे गये

थे, उसे फाड़ दीजिये"। गुरु जी ने पत्र मंगवा कर फाड़ दिया और सिक्ख ने प्रसन्नता-पूर्वक प्राण छोड़ दिए।

उन्हीं दिनों १७०७ ई० में औरंगजेब की मृत्यु हो गई और उस के पुत्रों में परस्पर युद्ध आरम्भ हुआ। औरंगज़ेब के बड़े पुत्र मुअज्ज़म ने, जो पश्चात् बहादुर शाह के नाम से सम्राट् बना, गुरु जी से सन्धि कर ली और अपने भाइयों के विरुद्ध सहायता मांगी।

युद्ध बंद हो गया। गुरु जी भ्रमण करते हुए दक्षिण में गोदावरी के किनारे अविचल नगर पहुंचे। वहां पर एक पठान ने एक रात उनके पेट में छुरा घोंप दिया। चिकित्सा की गई और घाव ठीक हो रहा था कि एक दिन गुरु जी ने एक बड़ी भारी कमान को इतने ज़ोर से खींचा कि घाव फिर से खुल गया।

अंततः १७०८ ई० में केवल ४२ वर्ष की आयु में अविचल नगर में गुरु गोविंद सिंह का देहांत हो गया।

यदि वे जीवित रहते तो मुगल साम्राज्य का अन्त अपनी आंखों से देखते। परन्तु उन का उत्पन्न किया खालसा भी उन का अपना ही रूप था। उन्होंने जो अपूर्व बलिदान किया, उससे मृतप्राय जाति में प्राण आ गए और पंजाब में एक नई ज्योति का उदय हुआ।

महारानी लक्ष्मीबाई

शिवाजी का दक्षिण में स्थापित किया राज्य देर तक सुदृढ़ न रह सका। उन की मृत्यु के कुछ ही समय पश्चात् मराठा शक्ति विकेंद्रित हो गई। मुग़ल साम्राज्य के विनाश के पश्चात् एक समय ऐसा आया था जब कि देश का आधिपत्य मराठों के भाग्य में बदा दिखाई दे रहा था, परन्तु कुछ तो मराठा शक्ति के बिखर जाने से और कुछ अंग्रेज़ों के भारतीय रंगमच पर आ धमकने से इतिहास की धारा दूसरी ओर बह निकली। जिस पारस्परिक फूट और वैमनस्य ने मुसलमानी राज्य को निमन्त्रित और सुदृढ़ किया था उसी ने अंग्रेज़ी सत्ता के जमाने मे सहायता की। मुसलमान तो फिर भी पास के देश से और हज़ारों की संख्या में आक्रमणकारियों के रूप में आए थे परन्तु योरुप के लोग तो सात समुद्र पार से और बहुत अल्प संख्या में व्यापार के लिए आए। आरम्भ में कदाचित् उन्हें राज्य-स्थापना का विचार ही न आया हो, परन्तु इस देश की खंडशः विभक्त शक्ति को देखकर उन्हों ने राज्य स्थापना के स्वप्नों का स्वागत किया। मुग़ल सत्ता के टूटने पर जो धांदली मची उस से यौरुप से आए व्यापारियों ने लाभ उठाया। उन के पारस्परिक संघर्ष में अंततः अंग्रेज़ों की विजय हुई। अंग्रेज़ों ने आरम्भ ही से 'फूट डालो और राज्य करो' की

नीति का प्रयोग किया। भारतीय सेनाओं ही के बल से उन्हों ने भारत को विजित करना आरम्भ कर दिया। उनके सामने यदि कोई बड़ी भारी शक्ति थी तो मराठों की थी परन्तु वह शक्ति केंद्रित नहीं रही थी। मराठा शक्ति का नेतृत्व नाम को पेशवा के हाथ में था परन्तु पेशवा की सत्ता क्षीण होती गई। अन्तिम पेशवा बाजीराव ने १८१८ ई० में अंग्रेजों से पेंशन स्वीकार करके उत्तरी भारत में बठूर के स्थान पर निवास ग्रहण किया। दूसरे मराठा राजाओं ने भी अंग्रेजों की वश्यता स्वीकार कर ली थी। शिवा जी की प्रज्वलित की हुई राष्ट्रीय यज्ञाग्नि इस प्रकार अपना तेज खो कर सुप्त-प्राय हो गई, महाराष्ट्रीय वीर की संचित की हुई स्वतंत्रता-शक्ति पराधीनता में परिणत हो गई, राष्ट्र की जागृत आत्मा पुनः प्रगाढ़निद्रा में लीन होने लगी। परन्तु १८५७ में वही अग्नि एक बार फिर से भड़क उठी, वह शक्ति फिर से दृष्टिगोचर हुई, वह आत्मा फिर प्रबुद्ध हुई। इसी १८५७ के भारतीय स्वतन्त्रता-युद्ध में हमें महारानी लक्ष्मीबाई के दिव्य दर्शन होते हैं, भारतीय वीरता स्त्री रूप में दृष्टिगोचर होती है, देश की स्वतंत्र आत्मा का चमत्कार दिखाई देता है।

लक्ष्मीबाई के पिता मोरोपंत तांबे महाराष्ट्रीय ब्राह्मण थे, जिन के पूर्वज किसी समय पेशवा के दरबार में उच्चपदाधिकारी थे, परन्तु जो स्वयं बठूर में बाजीराव के पास एक बहुत साधारण स्थिति में रहते थे। लक्ष्मीबाई का जन्म काशी में हुआ और

उस एक ही संतान को शैशव की अवस्था में छोड़ कर माता का देहांत हो गया था। मोरोपंत ही लक्ष्मीबाई के लिए माता और पिता थे। परन्तु बचपन ही से लक्ष्मीबाई के सौंदर्य तथा कौशल के कारण बाजीराव उसे बहुत प्यार करते थे, और अपने पुत्रों नाना साहिब और राव साहिब के साथ पालते पोसते थे। राजकुमारों के साथ लक्ष्मी को भी अस्त्र-शस्त्र विद्या, खेलकूद, और घुड़सवारी में रुचि थी और उसे इन विषयों की शिक्षा भी दी गई थी। जो कुछ राजकुमार करते उसी के लिए लक्ष्मी हठ करती। एक दिन नाना साहिब और रावसाहिब ने उसे अपने साथ हाथी पर न बिठाया तो लक्ष्मीबाई ने बहुत ऊधम मचाया। पिता ने तंग आकर कहा, "क्या तेरे भाग्य में हाथी बदा है जो तू इस के लिए आग्रह करती ?" लक्ष्मी ने बाल-सुलभ तीव्रता और रोष से कहा, "मेरे भाग्य में एक नहीं दस हाथी बदे हैं।"

मोरोपंत की स्थिति के अनुसार लक्ष्मी को एक साधारण पति मिल सकता था परन्तु कुछ तो उस के सौंदर्य और गुणों के कारण और कुछ बाजीराव के प्रभाव के कारण उसका विवाह झांसी के राजा गंगाधर राव के साथ हो गया और वह रानी बन गई। १८५० ई० में लक्ष्मीबाई ने अपने पति के साथ तीर्थ-यात्रा की और १८५२ ई० में उस के हां पुत्र उत्पन्न हुआ। परन्तु विवहित जीवन का यह सुख दीर्घ काल तक टिकने वाला नहीं था। वह बच्चा तीन ही मास का होकर मृत्यु की

गोद में चला गया और एक बरस पश्चात् गंगाधर राव की मृत्यु हो गई। १८ वर्ष की आयु में लक्ष्मीबाई पर न केवल वैधव्य दुःख आ पड़ा, प्रत्युत राजपाट से भी उसे वंचित होना पड़ा।

मृत्यु से कुछ समय पहले गंगाधर राव ने अंग्रेज अधिकारी के सामने एक पांच वर्ष के बालक को दत्तक पुत्र के रूप में ग्रहण कर लिया था और इस सम्बन्ध में लिखा पढ़ी भी कर दी थी, परन्तु उस समय अंग्रेज सरकार की नीति देसी रियासतों को समाप्त करने की थी। अतः यदि कोई राजा निःसंतान मरता तो उस का राज्य अंगरेज़ी राज्य में मिला लिया जाता। इसी नीति के अनुसार झांसी का राज्य भी अंग्रेजों के हाथ में चला गया। लक्ष्मीबाई के दत्तक पुत्र को पांच लाख रुपये की जागीर दे दी गई और स्वयं लक्ष्मीबाई को ५००० रुपये वार्षिक की पैंशन मिलने लगी। अंग्रेजों की आज्ञानुसार रानी को किला छोड़ कर नगर के महल में रहना पड़ा। किले पर अंग्रेजी झंडा लहराने लगा और लक्ष्मीबाई संकट के प्रतिकार का कोई उपाय न देख अपने पुत्र के साथ जीवन के दिन काटने लगी। उस ने अपने पुत्र को राज्य दिलाने के लिए विलायत तक दौड़ धूप की परन्तु सफलता न मिली। ऐसी स्थिति में एक भारतीय रमणी का आश्रय भगवान् ही होते हैं और लक्ष्मीबाई भी कथा-वार्ता, ईश्वर भजन और दान पुण्य में जीवन यापन करने लगी। परन्तु क्षात्र धर्म की वह अग्नि जो बचपन ही से हृदय में प्रज्वलित हो गई थी, केवल दब गई थी, बुझी

नहीं थी। पतिगृह के दुर्ग पर अंग्रेज़ी झंडा लहराता देख कर उसका हृदय विह्वल हो उठता होगा, परन्तु अंग्रेज़ी सरकार से टक्कर लेने के लिए बड़ी भारी शक्ति की आवश्यकता थी।

अंग्रेज़ भारत में व्यापार के लिए आए थे परन्तु उन्हें यहां राज्य मिल गया। पहले पहल तो उनका अधिक ध्यान व्यापारिक लाभ ही की ओर रहा परन्तु पश्चात् राज्य-विस्तार मुख्य ध्येय हो गया। लार्ड डलहौज़ी के समय में यह नीति रही कि जो राजा निःसंतान मर जाय, उसके राज्य को अधिकृत कर लिया जाय। इस प्रकार बहुत से राज-घराने राज्य से वंचित कर दिए गये। इसी नीति के अनुसार झांसी का राज्य छिन गया था। राज्यच्युत वंशों के लोग दिल ही दिल में कुढ़ते थे। उन राज्यों की तोड़ी गई सेनाओं के सैनिक भी असंतुष्ट थे और बहुत से पदच्युत अधिकारी भी। १८५६-५७ ई० में जब भारत ने अंग्रेज़ी राज्य को उन्मूलित करने का प्रयत्न किया तो इन राज्य वंशों और इन के साथ सम्बंधित लोगों ने इस प्रयत्न में विशेष भाग लिया।

झांसी में भी आग भड़क उठी। अंग्रेज़ अधिकारियों ने दुर्ग में शरण ली परन्तु बहुत देर तक वे सुरक्षित न रह सके। क्रांतिकारी रानी के पास आर्थिक सहायता के लिये आये। रानी ने एक लाख रुपये के भूषण उन्हें दे दिये और वे झांसी से अंग्रेज़ी सत्ता को समाप्त करके दिल्ली की ओर चल दिये। झांसी पर लक्ष्मीबाई का अधिकार हो गया और यह अधिकार लग

भग दस मास तक रहा।

भारत में जब भी स्वाधीनता के लिए आंदोलन हुआ तो अखिल-देशीय राष्ट्रीय भावना का अभाव हो उसकी असफलता-का कारण सिद्ध हुआ। पराधीनता के काल में भी भारत में वीरता और क्षात्र-बल की कमी न थी। यदि कमी थी तो देश की शक्तियों को केंद्री-भूत करने की। १८५७ का स्वाधीनता-संग्राम भी इसी ऐतिहासिक सत्य का उदाहरण है। कुछ शक्तियाँ अंग्रेज़ी सत्ता को उखाड़ने के लिये प्रयत्न कर रहीं थीं, तो कुछ इस विदेशी सत्ता की सहायता पर तुली थीं। कुछ लोग उस गड़बड़ से लाभ उठा कर, जैसे भी हो, अपनी शक्ति बढ़ाने को उत्सुक थे। अंग्रेज़ों के विरुद्ध लड़ने वालों में भी हिंदू और मुसलमान दोनों थे और अंग्रेज़ों के सहायकों में भी दोनों। ऐसी परिस्थिति में ओरछा के दीवान नत्थेखाँ ने ६०००० सेना लेकर झाँसी पर आक्रमण किया। रानी ने अपने ठाकुरों और सरदारों को एकत्रित कर के युद्ध की तैयारी की, बेकार हुई तोपों को ठीक करवाया और स्वयं मरदाना वेष में, कवच और तलवार धारण करके, दुर्ग की रक्षा के लिए सन्नद्ध हुई। आक्रमणकारियों ने दुर्ग-विजय के लिए बहुत प्रयत्न किया परन्तु रानी की वीरता और जागरूकता से उन्हें बहुत नुकसान उठा कर लौट जाना पड़ा।

अपने इस छोटे से राजत्व-काल में लक्ष्मीबाई बड़े तेजस्वी वेष में स्वयं दरबार में जाती, राजकाज के विषय में मंत्रियों और सरदारों से परामर्श करती और न्याय करती।

क्रांति में पहले पहल तो ऐसे जान पड़ता था कि अंग्रेज़ी सत्ता सदा के लिए भारत से उखड़ गई और यदि देश की सभी शक्तियां मिल कर काम करतीं तो वास्तव में अंग्रेज़ी राज्य समाप्त हो गया था। परन्तु अंग्रेज़ इस देश की दुर्बलताओं से अपरिचित नहीं थे। क्रांतिकारियों की आरम्भिक सफलताओं के कुछ ही मास पश्चात् अंग्रेज़ों ने अपने सहायक ढूंढ लिए और खोए हुए स्थानों को विजित करना आरम्भ कर दिया।

सर ह्यू रोज़ की अध्यक्षता में अंग्रेज़ी सेना ने झांसी पर आक्रमण किया। रानी की सेना में अफ़ग़ान और बुंदेले ही सधे हुए सैनिक थे। उन के अतिरिक्त शेष नगर के लोग थे। अंग्रेज़ी सेना की शक्ति अधिक थी। रानी ने नाना साहिब के भाई राव-साहिब के पास कालपी में सहायतार्थ संदेश भेजा और राव-साहिब ने उत्तर में तांतिया तोपे की अध्यक्षता में बीस हज़ार सैनिक झांसी की सहायता के लिए भेज दिये, परन्तु यह सेना अंग्रेज़ी सेना से पराजित होकर लौट गई। रानी ने बारह दिन तक दुर्ग की रक्षा की। नगर पर अंग्रेज़ों का अधिकार हो गया था। अंततः जब दुर्ग का बहुत देर तक सुरक्षित रहना असम्भव दिखाई देने लगा तो लक्ष्मीबाई, १५ सौ सैनिकों का साथ लेकर खड्ग-युद्ध के लिये बाहर निकल आई। तलवार की लड़ाई में अंग्रेज़ी सेना लक्ष्मीबाई के सैनिकों के सामने टिक न सकी और मकानों की आड़ में छुप कर गोलियां चलाने लगी। रानी को

पुनः किले में लौट जाना पड़ा। परन्तु किला शत्रु के अधिकार में जाने ही वाला था। अतः एक अंधेरी रात में लक्ष्मीबाई दस बारह सैनिकों के साथ अपने पुत्र को लेकर दुर्ग से निकली और कालपी की ओर चल दी। दुर्ग पर शत्रु का अधिकार हो गया। और झांसी में सात दिन तक लूट जारी रही।

एक अंग्रेज़ अफ़सर मिस्टर वौकर ने लक्ष्मीबाई का पीछा किया था और मार्ग में एक स्थान पर रानी को उससे मुठभेड़ भी हो गई परन्तु रानी ने अपनी तलवार से उसे घायल कर दिया और उसे लौटना पड़ा। २४ घंटे तक घोड़े पर बिना कुछ खाए पिए १०३ मील का मार्ग तै करके, रानी कालपी पहुंची। दिन भर का थका रानी का घोड़ा पहुंचते ही गिर कर मर गया।

उस समय कालपी का दुर्ग क्रांतिकारियों का विशेष अड्डा था और अंग्रेज़ों की दृष्टि में था। झांसी के पश्चात् सर ह्यूरोज़ ने कालपी पर आक्रमण कर दिया। रावसाहिब, लक्ष्मीबाई और उनके साथियों ने बड़ी वीरता से दुर्ग की रक्षा की परन्तु शत्रु की शक्ति बहुत अधिक थी। अंततः दुर्ग छोड़ना पड़ा और रावसाहिब अपनी बची हुई सेना के साथ ग्वालियर की ओर चल दिए।

ग्वालियर का राजा जयाजी राव सींधिया भी मराठा था और शिवाजी की शक्ति के उत्तराधिकारियों में से था परन्तु उस समयह वह अंग्रेज़ों के पक्ष में था। रावसाहिब ने जयाजी राव को अपने साथ मिलाने का प्रयत्न किया, परन्तु सफलता न

मिली। जयाजीराव को युद्ध के लिए तत्पर देख कर ग्वालियर पर आक्रमण कर दिया। जयाजी राव ने प्रतिरोध किया परन्तु अंततः वह दुर्ग को छोड़ कर अंग्रेज़ों के पास चला गया। ग्वालियर पर राव साहिब का अधिकार हो गया। ग्वालियर में राव साहिब ने ठाट बाठ के साथ अपना राज्याभिषेक किया और तांतिया तोपे को अपना सेनापति नियुक्त किया। लक्ष्मीबाई ने राव साहिब को बहुत समझाया कि यह समय उत्सव मनाने का नहीं है क्योंकि शत्रु असावधान नहीं है परन्तु उसकी बात पर ध्यान न दिया गया। यही अलग २ रूप में शत्रु का सामना करने की नीति, आपा-धापी की नीति, ही सदा भारतीय राष्ट्रीयता के प्रयत्नों को असफल करती रही है। ग्वालियर पर अधिकार हो जाने से राव साहिब ने अपने आप को सुरक्षित समझ लिया, परन्तु सुरक्षित समझ लेने से तो कोई सुरक्षित नहीं हो जाता। कुछ ही समय पश्चात् सर ह्यू रोज़ ने ग्वालियर पर आक्रमण कर दिया। जयाजी राव सींधिया भी अंग्रेज़ सेना के साथ था और प्रकट रूप में अंग्रेज़ मानों जयाजी राव को उस का छिना हुआ राज्य दिलाने के लिये लड़ रहे थे। इस का यह प्रभाव पड़ा कि ग्वालियर के बहुत से नागरिक और अधिकारी हृदय से राव साहिब के साथ न रहे।

युद्ध आरम्भ हुआ। रानी को दुर्ग के पूर्वीय भाग की रक्षा का काम सौंपा गया और दुर्ग के दूसरे भागों पर तांतिया तोपे और राव साहिब स्वयं नियुक्त हुए। ग्वालियर का दुर्ग

एक सुदृढ़ दुर्ग था और अंग्रेज़ सेनापति ने बड़ी निपुणता से अपनी सेना को भिन्न २ मोर्चों में बांटा था। दुर्ग वालों ने भी रक्षा का पूरा प्रयत्न किया। अंग्रेज़ों के साथ हुई इन लड़ाइयों में हिन्दोस्तानियों के अस्त्र-शस्त्र शत्रु के अस्त्र-शस्त्रों की तुलना में पुराने ढंग के और कम शक्ति वाले होते थे। तो भी भयानक संघर्ष हुआ। रानी लक्ष्मीबाई मर्दाना सैनिक वेष में अपनी सेना की कमान कर रही थी। शत्रु ने बार २ आक्रमण किये परन्तु लक्ष्मीबाई ने आक्रमणकारियों के मुंह फेर दिये। शत्रु भी निश्चय का दृढ़ था और इधर लक्ष्मीबाई भी दुर्गा का रूप धारण किए प्रतिरोध के लिए कटि-बद्ध थी। दुर्ग का जो भाग लक्ष्मीबाई की संरक्षकता में था उधर शत्रु को निरन्तर असफलता मिल रही थी कि इतने में दुर्ग के दूसरे भाग पर शत्रु को सफलता मिलने लगी। यह समाचार सुन कर लक्ष्मीबाई की सेना में भी निराशा फैलने लगी, परन्तु जब वह स्वयं रणचण्डी के समान युद्ध क्षेत्र में उपस्थित थी तो सेना कैसे पीछे हटती। जब दुर्ग के दूसरे भागों पर शत्रु का ज़ोर बढ़ने लगा तो स्वभावतः लक्ष्मीबाई का कार्य अधिक कठिन हो गया। शत्रुओं के आक्रमण अधिक तीव्र हो गए और दुर्ग की दीवारों में कई जगह छेद हो गए। रानी की सेना की संख्या कम होती गई और अंततः उस के साथ केवल दस बीस सवार रह गए। ऐसी स्थिति में दुर्ग की रक्षा तो क्या हो सकती थी? रानी ने शत्रु के घेरे को चीर कर निकल जाने

का प्रयत्न किया। चारों ओर शत्रु की सेना थी। गोलियों की वर्षा हो रही थी। लक्ष्मीबाई ने अपना घोड़ा बाहिर निकाल लिया। शत्रु के कई अश्वारोही उन के पीछे पड़ गए। रानी चाहती थी कि अपनी बची हुई सेना के साथ जा मिले और पुनः शक्तिसंग्रह करके शत्रु से मोर्चा ले। वह घोड़ा दौड़ाए जा रही थी कि पीछे से एक गोली उसे आ लगी। रानी का शरीर शिथिल पड़ गया और पीछे से अश्वारोही समीप आ पहुंचे। तो भी रानी ने उत्साह नहीं छोड़ा और वह बच कर निकल गई होती यदि आगे एक नाले पर घोड़ा अड़ न गया होता।

घोड़ा नया था। रानी का अपना घोड़ा मारा जा चुका था। ऐसे अवसर पर घोड़े के अड़ जाने से शत्रुओं के साथ आमने सामने की लड़ाई के अतिरिक्त और क्या चारा था? लक्ष्मी-बाई ने पीछा करने वाले अश्वारोहियों का डट कर सामना किया। कई एक उसके हाथों भूमिशायी हुए। अंततः एक शत्रु के तलवार के वार से लक्ष्मीबाई के सिर का दायां भाग कट गया और आंख निकल गई, परन्तु वह सामना करती रही। दूसरे सवार ने उस की छाती में किर्च भोंक दी, परन्तु वह स्वयं भी रानी के वार से मृत्यु को प्राप्त हुआ।

अब रानी का शरीर बहुत क्षत-विक्षत था। जीवन की आशा नहीं रही थी। वह नहीं चाहती थी कि उस का शरीर शत्रु के हाथ पड़े। इस सम्बन्ध में उसने अपने साथियों को

पहले ही से आदेश दे रखा था। वे उसे बचा कर एक ओर ले गए। वहीं किसी निर्धन भारतीय की झौंपड़ी में झांसी की महारानी लक्ष्मीबाई ने वीरगति प्राप्त की, भारतीय स्वतन्त्रताग्नि का एक चमकदार स्फुलिंग बुझ गया, राष्ट्रीय आशा की एक उज्ज्वल रश्मि लुप्त हो गई।

स्वामी विवेकानंद

कलकत्ता के समीप, गंगा के तट पर, दक्षिणेश्वर के मन्दिर में महात्मा राम कृष्ण परमहंस रहा करते थे। नगर के बड़े २ प्रसिद्ध विद्वान् और प्रतिष्ठित लोग भी इस प्रायः अनपढ़ महापुरुष के पास श्रद्धापूर्वक आया करते थे। जो आता वही उस अर्धविक्षिप्त से व्यक्ति के प्रभाव से वशीभूत हो जाता था। एक दिन एक नवयुवक, जो कलकत्ता विश्व-विद्यालय से बी० ए० की परीक्षा पास कर चुका था और जिस के विचार उस समय के नवयुवकों के समान नास्तिकता की ओर झुके हुए थे, परमहंस के पास आया। संभवतः नवयुवक के हृदय में उस अशिक्षित साधु से बातें कर के उपहास मात्र करने का भाव था। श्रद्धा तो बिलकुल नहीं थी। नवयुवक ने छूटते ही प्रश्न किया, "क्या आप ने परमात्मा को देखा है ?" रामकृष्ण ने कहा, "हां, देखा है और देख रहा हूं। जैसे तुम्हें या उस दीवार को देख रहा हूं, वैसे ही परमात्मा को देख रहा हूं।" नवयुवक ने यह प्रश्न पहले भी कई लोगों से किया था, परन्तु किसी ने ऐसे स्पष्ट शब्दों में उत्तर नहीं दिया था। सब ने दूसरों की साक्षियां प्रस्तुत कर के उसे सन्तुष्ट करना चाहा था। इस उत्तर को सुन कर नवयुवक की नास्तिकता डगमगा गई। पुनः उस ने केवल इतना पूछा, "तो क्या आप किसी दूसरे को भी परमात्मा दिखा सकते हैं ?" परमहंस ने मुस्करा

कर कहा, "हां, यदि देखने वाला हो।" नवयुवक और कुछ न कह सका। उस पर रामकृष्ण के शब्दों का ऐसा प्रभाव पड़ा कि वह उन का शिष्य बन गया। यही नवयुवक नरेन्द्रनाथ दत्त आगे चल कर विवेकानंद के नाम से जगत् में प्रसिद्ध हुआ।

नरेंद्र का जन्म कलकत्ता के समीप एक बस्ती में विश्वनाथ दत्त नाम के वकील के हां १८६३ ई० में हुआ। विश्वनाथ की वकालत अच्छी चलती थी और वे एक सम्पन्न व्यक्ति थे। उनकी पत्नी भुवनेश्वरी एक धर्मपरायण महिला थीं। हिन्दू स्त्री के समान भुवनेश्वरी ने संतान के लिए बहुत पूजा पाठ और व्रत किए थे। उसे शिव भगवान् पर आस्था थी और उसने पुत्र को शिव की देन समझ कर उस का नाम वीरेश्वर रखा। अन्न-प्राशन के समय बालक का नाम नरेन्द्रनाथ रखा गया।

माता पिता ने बड़े प्रेम-प्यार से बच्चे का पालन पोषण किया। नरेन्द्र बचपन में बहुत चंचल था और माता पिता को उसकी देख-रेख के लिए उस के साथ नौकर और नौकरानियां रखने पड़ते थे। परन्तु एक बात नरेन्द्र में शैशव काल से थी और वह थी उस की साधु महात्माओं के प्रति श्रद्धा। जब कोई साधु द्वार पर आता तो नरेन्द्र उस की इच्छा-पूर्ति के लिए उत्सुक हो उठता। बच्चे के खेलों से भी उस की धार्मिक प्रवृत्ति का परिचय मिलता था। अन्य खेलों के अतिरिक्त ध्यान लगाने और भक्ति करने के खेल में नरेन्द्र अपने को विस्मृत कर देता। एक बार ऐसे ही ध्यान लगा कर बैठने के समय उसे एक समी-

पस्थ विषधर सांप का भी ज्ञान नहीं रहा था। कहते हैं कि नरेन्द्र को बचपन से ही आंखें बन्द करके ध्यान लगाने पर एक प्रकार का प्रकाश दिखाई देता था, जो उस के जन्मजन्मान्तरों के आध्यात्मिक संस्कारों का द्योतक था।

बंगाली की आरम्भिक शिक्षा समाप्त होने पर नरेन्द्र ने अंग्रेज़ी को म्लेच्छ भाषा कह कर उसे पढ़ने से इनकार कर दिया और माता पिता के वहुत समझाने पर ही अंग्रेज़ी स्कूल में प्रविष्ट होना स्वीकार किया। १८७६ ई० में नरेंद्र ने कलकत्ता के मेट्रोपोलिटन स्कूल से ऐंट्रेंस परीक्षा पास की। उस स्कूल का वही एक विद्यार्थी उस वर्ष प्रथम श्रेणी में पास हुआ था। कालिज में पढ़ते समय नरेन्द्र को व्याख्यान देने में बहुत रुचि थी। उसने अपने मित्रों के सहयोग से कालिज में एक व्याख्यान समिति की स्थापना की। उन्हीं दिनों उस की रुचि धर्म के अध्ययन के प्रति बढ़ी। उसपर ब्राह्म-समाज का भी प्रभाव पड़ा। नरेन्द्र की आवाज़ वहुत सुरीली और मधुर थी और ब्राह्मसमाज की बैठकों में वह बहुधा भजन गा कर श्रोता-गणों को मुग्ध कर देता था।

वह समय भारत में सांस्कृतिक संघर्ष का समय था। भारतीय संस्कृति और पाश्चात्य संस्कृति की टक्कर थी। अपनी संस्कृति के प्रति श्रद्धा रखने वाले नवयुवक भी पाश्चात्य दार्शनिकों के प्रभाव से मुक्त नहीं रह सकते थे। पाश्चात्य विज्ञान और दर्शन के अध्ययन से विचारशील भारतीय युवकों के अन्दर कई

प्रकार के प्रश्न उठते थे और बहुधा उन प्रश्नों के संतोषजनक उत्तर न पाकर वे नास्तिकवाद की ओर झुक जाते थे। नरेन्द्र भी एक विचारशील, अध्ययन-प्रिय और तार्किक-बुद्धि नवयुवक था। उन दिनों अंग्रेज़ विद्वान् हरबर्ट स्पेन्सर जीवित थे और उनके दर्शनशास्त्र के ग्रन्थ कालिजों में पढ़ाये जाते थे। नरेन्द्र ने, जो उन दिनों एफ० ए० में पढ़ता था, हरबर्ट स्पैंसर के कुछ सिद्धांतों की आलोचना की, जिसे पढ़ कर उक्त विद्वान् ने उसकी बुद्धि की प्रशंसा की। आस्तिक-प्रकृति नरेंद्र के जीवन में भी उस समय के वातावरण के अनुसार नास्तिकता का युग आया, जिस का अन्त रामकृष्ण परम-हंस के सम्पर्क में आने पर हुआ।

राम कृष्ण परमहंस एक अद्भुत व्यक्ति थे। ब्राह्मण कुल में जन्म हुआ था, परन्तु पठन-पाठन से अनभिज्ञ ही रहे थे। यद्यपि शिक्षा की परिभाषा के अनुसार उन्हें शिक्षित नहीं कहा जा सकता था, तथापि धर्म तथा आध्यात्मिकता में बड़े २ विद्वान् और धार्मिक नेता उनके सामने मूक थे। राम कृष्ण एक अद्भुत आत्मा लेकर उत्पन्न हुए थे। बचपन ही में किसी सुन्दर दृश्य को देख कर, किसी प्रेमरस के स्तोत्र को सुन कर, किसी सुन्दर भजन की आवाज़ कान में पड़ने पर, बहुधा समाधि लग जाती थी। वे कलकत्ते के पास दक्षिणेश्वर के मंदिर में रहते थे, मानों पाश्चात्य सभ्यता की धारा में बहे जा रहे सुशिक्षित भारत के लिये वे ज्योति-स्तम्भ के समान गंगा तट पर स्थित थे। नास्तिकता के स्रोत में बही जाने वाली अनेक जीवन नौकाएँ

को मार्ग दिखा कर वे तट पर लाए। आठों पहर भक्ति रस में रंगे रहने वाले रामकृष्ण में मानों भारत की आत्मा ने जन्म लिया था । इन्हीं रामकृष्ण परमहंस ने नरेंद्रनाथ दत्त को विवेकानन्द बनाया।

बी० ए० पास करने के पश्चात् नरेन्द्र ने वकालत पढ़ना आरम्भ किया। पिता की मृत्यु हो चुकी थी। पिता ने यद्यपि धन कमाया था परन्तु खर्चीले स्वभाव के कारण उन्होंने कुछ पीछे न छोड़ा। परिवार का निर्वाह होना कठिन था।

रामकृष्ण परमहंस के प्रभाव में आने के पश्चात् नरेंद्र के विचार सांसारिकता की ओर से हटने लगे। उसन वकालत का अध्ययन भी छोड़ दिया। माता ने पुत्र की वृत्ति को देखकर विवाह कर देना चाहा, परन्तु नरेंद्र संसार के बंधन में नहीं पड़ना चाहता था। जब विवाह से बचने का और कोई उपाय न न रहा तो नरेंद्र ने रामकृष्ण परमहंस से संन्यास ले लिया और विवेकानंद नाम पाया।

राम कृष्ण अपने आध्यात्मिक अनुभव से जानते थे कि विवेकानंद का जन्म उन के मिशन की पूर्ति के लिए हुआ है । जब पहले पहल विवेकानंद रामकृष्ण के पास आए थे और किसी ने उनके नास्तिक होने की बात कही थी तो परमहंस ने कहा था, "यह तो स्वयं सिद्ध पुरुष है। यह नास्तिक कैसे हो सकता है।" संन्यास देते समय गुरु ने कहा था, "बेटा, सारे संसार में लोग मोहरूपी अंधकार में पड़े हैं। उन्हें वेदांत-रूपी प्रकाश देकर

शांति पहुंचाओ।" १८८६ ई० में रामकृष्ण ने शरीर छोड़ा और आध्यात्मवाद की परम्परा के अनुसार वे अपनी साधना और तपस्या से प्राप्त की हुई शक्ति अपने योग्यतम शिष्य विवेकानंद को दे गए। इसी ओर संकेत करते हुए रामकृष्ण ने मरने से पहले कहा, "नरेंद्र, आज से मैं भिखारी हो गया"।

गुरु की मृत्यु के पश्चात् विवेकानंद ने अपने गुरु-भाइयों को काशीपुर के बगीचे में एकत्रित किया और गुरु के मिशन की पूर्ति के सम्बन्ध में परामर्श किया।

भारत वर्ष में प्राचीन काल से विशेषतः साधु संन्यासियों के लिए देशाटन तथा तीर्थ-यात्रा का बहुत माहात्म्य माना गया है। एक तो किसी स्थान-विशेष के साथ मोह की वृत्ति को नष्ट करके विश्वप्रेम की भावना को जागृत करने के लिए और दूसरे प्रकृति के सुन्दर दृश्यों को, जीवन के भिन्न २ रूपों को, देख कर हृदय में विशालता और सहानुभूति के भाव उत्पन्न करने के लिए परिभ्रमण की महिमा को स्वीकार किया गया है। इसके अतिरिक्त परिभ्रमण में जिज्ञासु को साधु महात्माओं के दर्शन तथा सत्संग के अवसर मिलते हैं। अतः विवेकानंद ने भी देश-परिभ्रमण का निश्चय किया।

पहले पहल स्वामी विवेकानंद हिमालय में गए और वहाँ उन्हों ने दो वर्ष तक एकान्त में अभ्यास, आत्म-चिंतन तथा अध्ययन किया। प्राचीन काल से हिमालय भारत की तपोभूमि रहा है। फिर वे बुद्ध धर्म के अध्ययन के लिये आगे तिब्बत को

चले गए। वहां से लौट कर उन्होंने भारत का परिभ्रमण आरम्भ किया। उत्तरीय भारत में घूमते हुए वे राजस्थान पहुंचे। इस भ्रमण में कई स्थानों पर उनका सन्मान और स्वागत भी हुआ और कई वार उन्हें कई २ दिन के लिये भूखा भी रहना पड़ा। भारत की दरिद्रता और दुरवस्था का चित्र उन के हृदय-पटल पर अंकित हो गया। ऋषियों के इस प्राचीन देश की दयनीय दशा देख २ कर वे व्याकुल हो उठे। उन का भक्ति प्रिय हृदय अपने भगवान् की सृष्टि की अवस्था को देख कर विह्वल हो गया। उन्हों ने भारत की जनता में नारायण को देखा और दरिद्र-नारायण की सेवा के उपायों पर विचार किया।

राजस्थान में खेतड़ी रियासत के राजा बड़े विद्वान् और जिज्ञासु थे। उन्हों ने युवक संन्यासी की योग्यता को पहचाना। राजस्थान से पे गुजरात और बम्बई होते हुए दक्षिण की ओर चल दिये। मैसूर, कोचीन और मदुरा होते हुए वे रामनद गये। रामनद के महाराजा स्वामी जी के श्रद्धालु हो गये और उन्हों ने स्वामी जी को प्रेरणा की कि वे संयुक्त राज्य अमेरिका के शिकागो नाम के नगर में होने वाले सर्व-धर्म-संम्मेलन में जाएं। मद्रास में वहां के ईसाई कालिज के एक हिंदुस्थानी ईसाई प्रोफैसर श्री मुदालियर स्वामी जी से शास्त्रार्थ करने आए परन्तु स्वामी जी की थोड़ी ही बातें सुनकर वे उन के शिष्य हो गये। वही श्री मुदालियर पश्चात् 'प्रबुद्ध भारत' नाम का पत्र निकाल कर धर्म प्रचार-कार्य में स्वामी जी का हाथ बटाने लगे और अन्त

में संन्यासी होकर दीन-दुखियों की सेवा से अपने जीवन को सफल करने लगे। मद्रास में भी उन के शिष्यों ने उन्हें सर्व-धर्म-सम्मेलन में जाने की प्रेरणा की। स्वामी जी किसी से रुपया पैसा नहीं लेते थे। बहुत हुआ तो रेल का किराया ले लिया। किसी के बहुत आग्रह करने पर वे कह देते थे कि आवश्यकता होने पर सूचित करूंगा। उन के शिष्यों ने अब उन की अमेरिका यात्रा के लिए धन इकट्ठा करने का विचार किया। स्वामी जी ने अपने गुरुदेव की धर्मपत्नी को पत्र लिख कर अमेरिका जाने की आज्ञा ले ली। उसी समय उन के श्रद्धालु खेतड़ी के राजा ने अपने नवजात पुत्र के जन्मोत्सव पर उन्हें आग्रह-पूर्वक निमंत्रित किया। जब राजा ने उन्हें लिवा लाने के लिये अपने प्राइवेट सैक्रेटरी को भेज दिया तो स्वामी जी टाल न सके और खेतड़ी चले गये। वहीं से स्वामी जी महाराजा के प्रबन्ध से सर्व-धर्म-सम्मेलन में सम्मिलित होने के लिए अमेरिका को चल दिये।

अमेरिका पहुंच कर स्वामी जी को ज्ञात हुआ कि केवल वही व्यक्ति सर्व-धर्म-सम्मेलन में सम्मिलित हो सकते थे जो किसी संस्था के प्रतिनिधि बन कर गये थे। स्वामी जी की पृष्ठ पर तो कोई संस्था न थी, वे तो भारत के एक स्वतंत्र संन्यासी थे। जो धन वे साथ ले गये थे, वह अमेरिका जैसे खर्चीले देश में कै दिन चल सकता था। उनकी वेष भूषा को देख कर वहां के लोग हंसते। विदेश में कोई परिचित भी नहीं था। एक दिन बोस्टन

नाम के नगर में ऐसे ही विचार-निमग्न घूम रहे थे कि एक अमेरिकन महिला ने उनका परिचय पूछा। वह स्वामी जी को अपने घर ले गई और उसने उन का परिचय दर्शन-शास्त्र के एक प्रोफैसर से करवा दिया। प्रोफैसर ने स्वामी जी की योग्यता को पहचाना और उन्हें पत्र देकर सर्व-धर्म-सम्मेलन के आयोजक महोदय के पास शिकागो भेज दिया। दुर्भाग्यवश वह पत्र मार्ग में कहीं खो गया और शिकागो पहुंच कर वे फिर भटकने लगे। एक रात तो उन्होंने स्टेशन पर पड़े एक खाली संदूक में सोकर काटी। एक दिन वे एक स्थान पर किंकर्त्तव्यविमूढ़ बैठे थे कि एक अन्य महिला ने उन का परिचय पूछ कर उन के सर्व-धर्म-सम्मेलन में सम्मिलित होने का प्रबन्ध कर दिया।

सर्व-धर्म सम्मेलन ११ सितम्बर १८९३ को आरम्भ हुआ। देशदेशान्तरों से भिन्न २ धर्मों और सम्प्रदायों के प्रतिनिधि एकत्रित थे। हिन्दुस्थान से भी ब्राह्मसमाज, थियासोफिकल सोसायटी और जैन धर्म आदि के प्रतिनिधि पहुँचे थे। व्याख्यान आरम्भ हुए। बोलने वालों ने अपने व्याख्यान खूब तैयार प्रत्युत् कण्ठस्थ किए हुए थे।। स्वामी जी ने कोई तैयारी न की थी। अतः अपनी बारी समीप आते देख कर उनके होंठ सूख रहे थे और हृदय बैठता जा रहा था। अन्ततः उनका नाम आया और सम्मेलन के सभापति ने उन का परिचय दिया। अपना व्याख्यान आरम्भ करते समय स्वामी जी के सम्बोधन के शब्द थे, "अमेरिका के मेरे प्यारे भाई बहनो !" यह सम्बोधन नया

और मौलिक था। इस में भारत की आत्मा की झलक थी। सुन कर श्रोतागण फड़क उठे। बहुत देर तक तालियां बजती रहीं। शांति होने पर विवेकानन्द ने अपना व्याख्यान आरम्भ किया। सच तो यह है कि अपने उस पहले ही व्याख्यान में स्वामी जी ने अन्य सब प्रतिनिधियों को पिछाड़ दिया, अपने लिए और अपने मिशन के लिए संसार में स्थान बना लिया और हिन्दू धर्म का नाम उज्ज्वल कर दिया। वे किसी सम्प्रदाय के प्रतिनिधि न हो कर विशाल हिन्दू धर्म के प्रतिनिधि थे, वे भारत के संन्यास आश्रम के प्रतिनिधि थे। उनके व्याख्यान में कृत्रिमता न थी। हर एक शब्द हृदय से निकला हुआ था और एक अनुभवी हृदय से। दूसरे दिन प्रायः सभी समाचार पत्र मुक्तकंठ से स्वामी जी के व्याख्यान की प्रशंसा कर रहे थे। स्वामी जी ने उक्त सम्मेलन में छः सात दिन तक व्याख्यान दिए। लोग उनके व्याख्यान की प्रतीक्षा में रात के दस बजे तक बैठे रहते और लोग साधारण नहीं प्रत्युत अमेरिका के सुशिक्षित और सुसभ्य वर्ग के साथ संबंध रखने वाले। स्वामी जी की कीर्ति सारे अमेरिका में फैल गई। स्थान २ से उन्हें व्याख्यानों के लिए निमन्त्रण आने लगे। उस समय उनकी आयु केवल तीस वर्ष की थी।

सम्मेलन के पश्चात् स्वामी विवेकानंद ने अमेरिका के भिन्न २ नगरों में जाकर भारतीय संस्कृति और दर्शनशास्त्र पर व्याख्यान देना आरम्भ किया। उन व्याख्यानों के बारे में एक पत्र ने

लिखा, "स्वामी विवेकानंद सचमुच एक बहुत बड़े विद्वान् हैं। धर्म-सम्मेलन में जितने व्याख्याता आए थे, उन में उन की टक्कर का कोई न था।" एक दूसरे पत्र ने लिखा, "स्वामी विवेकानंद वास्तव में एक महापुरुष हैं। उनके व्याख्यान सुनने के पश्चात् हमारी यह धारणा हो गई है कि भारत जैसे शिक्षित देश में पादरियों को भेजना कितनी नादानी का काम है।" सर्व-धर्म-सम्मेलन के सभापति ने कहा था, "सच-मुच भारत धर्मों का जन्म देने वाला है। उस धर्म के प्रतिनिधि स्वामी विवेकानंद ने अपने व्याख्यानों से जनता पर बड़ा अच्छा प्रभाव डाला।"

बहुत से अमेरिकन स्त्री पुरुष स्वामी जी के शिष्य बन गये और उनके हाथ से संन्यास ग्रहण करके धर्म-प्रचार का कार्य करने लगे।

अमेरिका में दो वर्ष तक प्रचार कार्य करने के पश्चात् स्वामी जी १८९५ ई० में इंग्लैंड गए। उन की कीर्ति उनके पहुंचने से पहले ही उस देश में पहुँच चुकी थी। पहुँचने के साथ ही उन्हें व्याख्यानों के लिए निमंत्रण मिलने लगे। उनके पहले व्याख्यान का प्रबंध प्रिंसेस हाल में किया गया। व्याख्यान का विषय था आत्म-ज्ञान। श्रोतागण चित्र बने हुए एक २ शब्द सुनते रहे और भाषण समाप्त होने पर ही उन्हों ने आत्म-स्मृति को प्राप्त किया। अगले दिन के एक पत्र ने लिखा "राजा राम मोहन राय और केशव चन्द्रसेन के पश्चात् स्वामी विवेकानंद पहले हिंदू हैं, जिन्होंने प्रिंसेस हाल में अपने व्याख्यान के द्वारा

लोगों पर इतना प्रभाव डाला। उन का भाषण बड़ा गम्भीर और मार्मिक था।" एक दूसरे पत्र ने लिखा, "लंडन में अनेक जातियों के, अनेक अवस्थाओं के मनुष्य मिलते हैं, परंतु इस समय इंग्लैंड में उस तत्ववेत्ता से बढ़कर और कोई मनुष्य नहीं है जो अभी शिकागो के धर्म सम्मेलन में हिंदू धर्म की ओर से प्रतिनिधि था।" एक मास ही में स्वामी जी के कई शिष्य बन गए, जिस में से पश्चात् मिस मारगेट नोबेल का नाम बहुत प्रसिद्ध हुआ। मिस नोबेल ने हिंदू धर्म ग्रहण करके अपना नाम भगिनी निवेदिता रखा। उन्हीं दिनों के एक शिष्य कप्तान सेवियर ने पश्चात् हिमालय के मायावती स्थान पर अद्वैताश्रम स्थापित करने में सहायता की।

अपने अमेरिकन शिष्यों के अनुरोध से स्वामी जी इंग्लैंड से पुनः अमेरिका गए और अब भी उन का पूर्ववत् सन्मान हुआ। उनके व्याख्यानों की सफलता को देख कर बहुत से ईसाई पादरी घबराए और वे स्वामी जी के व्याख्यानों के खंडन में अपने व्याख्यान देने लगे परन्तु उनकी बातों को सुनने के लिए बहुत कम लोग जाते थे। अमेरिका वालों ने स्वामी जी का नाम "साइक्लोनिक हिंदू" (तूफ़ानी हिंदू) रखा था। कुछ देर अमेरिका में रह कर वे फिर इंग्लैंड चले गए। अमेरिका में अपना काम वे अपने अमेरिकन शिष्यों कृष्णानंद, अभयानन्द और योगानंद आदि को सौंप आए।

इंग्लैंड में आप ने वेदांत की श्रेणियां चलाईं, सार्वज-

निक व्याख्यान दिए, कालिजों और विश्वविद्यालयों में भाषण दिए। संस्कृत के प्रसिद्ध विद्वान् मैक्समूलर आप के भाषणों से बहुत प्रभावित हुए। थोड़े ही समय में आप का नाम लंडन में प्रायः हर एक मननशील व्यक्ति की जबान पर था। लोग आप के दर्शन करने और भाषण सुनने को उत्सुक रहते। श्री विपिन-चन्द्रपाल ने जो उन दिनों इंग्लैंड में थे अपने एक पत्र में लिखा था, "लंडन में कोई ऐसा स्थान नहीं जहां पर स्वामी जी का जिक्र न चलता हो। उन्होंने लोगों पर जादू सा डाल दिया है। जहां जाओ, उन्हीं का नाम सुनाई देता है।"

१७६७ ई० के आरम्भ में स्वामी जी भारत लौटे और कोलम्बो की बंदरगाह पर उतरे। भारत तो वर्षों से आप की प्रतीक्षा में था। भारतवासी तो आप को आंखों पर बिठाने को उत्सुक थे। आप ने भारत के मस्तक को संसार में उन्नत किया था। शताब्दियों से पराधीनता के कारण नत-मस्तक हिंदू जाति ने आत्म गौरव प्राप्त किया। स्थान २ पर स्वामी जी का जो स्वागत हुआ और जिस श्रद्धा से जनता ने आप के व्याख्यानों को सुना उस का वर्णन कठिन है। भिन्न २ नगरों से होते हुए, भारतीय जनता का हार्दिक स्वागत ग्रहण करते हुए और व्याख्यान देते हुए स्वामी जी कलकत्ता पहुँचे। वहां उन्हें बन्दरगाह से नगर तक ले जाने के लिए स्पैशल ट्रेन का प्रबन्ध था। अपने नगर में उन का जो स्वागत हुआ होगा, उस की कल्पना की जा सकती है। भारत लौट कर स्वामी जी

चुप चाप नहीं बैठ गए। देश के नगर २ से उनके पास निमंत्रण पहुँच रहे थे। बिना विश्राम किए उन्होंने उत्तरीय भारत तथा राजस्थान के नगरों का दौरा आरंभ कर दिया। सब जगह उन के व्याख्यानों में जनता समुद्र के समान उमड़ी आती थी।

विदेश-यात्रा से पहले अपने स्वदेश-भ्रमण में स्वामी जी, भारत की समस्याओं को समझ चुके थे। भारत में आप ने अपने भाषणों में अधिक ज़ोर सेवा-धर्म पर दिया। एक जिज्ञासु को, जिस ने पूजा पाठ से शांति न मिलने की बात कही थी, स्वामी जी ने उत्तर दिया था, "भाई, जिस शांति को तुम पाना चाहते हो, वह आंखें बंद करने से न मिलेगी। यदि तुम सच्ची शांति चाहते हो तो अपने नेत्र खोल कर देखो कि तुम्हारे आस पास कौन २ हैं, कौन दरिद्रता और बेबसी की अवस्था में पड़ा है, कौन रोगी और अपाहिज सहायता चाहता है। तुम यथाशक्ति उनकी सहायता करो। यदि उनके पास कपड़ा नहीं तो कपड़े का प्रबन्ध करो, और रोग से कराहते हुओं के लिए दवादारू का प्रबन्ध करो। यही परमात्मा की सच्ची सेवा है। इसी से तुम्हें शांति मिलेगी।" भारत में अपने व्याख्यानों में स्वामी जी प्रायः इन्हीं भावों को दोहराते थे। इस सेवा-कार्य को संगठित रूप से चलाने के लिए आपने रामकृष्ण-मिशन की स्थापना की। इस मिशन का कार्य आज सारे देश में फैला है बंगाल के तो कस्बों तक में इसके सेवा-केन्द्र हैं। इस मिशन के प्रचारक विदेशों में भी प्रचारार्थ जाते रहते हैं। इस मिशन का प्रधान-कें

कलकत्ता के पास बैलूर मठ है।

दो अढ़ाई वर्ष तक भारत-वर्ष में कार्य करके स्वामी जी को अपने विदेशस्थ शिष्यों के अनुरोध से पुनः इंग्लैंड और अमेरिका जाना पड़ा। लगभग एक वर्ष तक उन देशों में भ्रमण करने के पश्चात् आप १६०० ई० में पैरिस के धार्मिक सम्मेलन में सम्मिलित हुए। वहां से चल कर योरुप के अन्य देशों में घूमते हुए, टर्की, यूनान और मिश्र से होते हुए, स्वामी जी भारत लौटे।

निरंतर भ्रमण और कार्य के कारण स्वामी जी के स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ा। कुछ समय तक हिमालय में माया-वती के आश्रम में विश्राम किया। स्वास्थ्य ठीक न होने के कारण आप जापान में हुए सर्वधर्म-सम्मेलन में न जा सके। उपचार करने पर भी स्वामी जी का स्वास्थ्य गिरता ही गया। स्वास्थ्य की ऐसी अवस्था में भी आप निरंतर कार्य-व्यग्र रहे। बैठूर आश्रम में आप विद्यार्थियों को वेद और व्याकरण पढ़ाते, सेवा-कार्य का निरीक्षण और संगठन करते।

४ जुलाई १६०२ को स्वामी जी ने विद्यार्थियों को व्याकरण पढ़ायों, वेदों का उपदेश दिया और टहलने गए। टहलने से लौट कर ध्यान में बैठे। यही ध्यान महासमाधि के रूप में परिणत हो गया। भारत तथा संसार में हाहाकार मच गया। उस समय स्वामी जी की आयु केवल ३६ वर्ष की थी। इतने थोड़े समय में आप ने संसार के कई देशों में भारतीय संस्कृति

तथा दर्शन के प्रचार-केंद्र स्थापित किए, रामकृष्ण मिशन का संगठन किया, संसार में भारत का नाम उज्ज्वल किया, कितनी ही पुस्तकें लिखीं और संख्यातीत व्याख्यान दिये। आज आप के शिष्य भारत तथा अन्य देशों में आप के कार्य को सुचारु-रूप से चला रहे हैं। आप की कई पुस्तकों के अनुवाद संसार की सभी प्रसिद्ध भाषाओं में हो चुके हैं। इतने थोड़े समय में इतना कार्य! वास्तव में आप 'तूफ़ानी हिंदू' थे।

लाला लाजपत राय

लाला जी के परिवार का निवास-स्थान पंजाब के लुधियाना ज़िला में जगरांव था परन्तु उन का जन्म उनके ननिहाल में हुआ था। पिता लाला राधाकृष्ण नौकरी में थे और कई स्थानों पर रहे। नवयुवक लाजपतराय ने १८८० ई० में पन्द्रह बरस की आयु में अम्बाला से ऐंट्रेंस की परीक्षा पास की और वे लाहौर में उच्च शिक्षा के लिए गए। कालिज में पढ़ते हुए उन्होंने मुख्तारी की परीक्षा भी पास कर ली और वे जगरांव में काम करने लगे। १८८५ ई० में वकालत की परीक्षा पास की और १८८६ ई० में हिसार में वकालत आरंभ की। १८६२ ई० में आप मित्रों के अनुरोध से लाहौर में आ कर वकालत करने लगे। स्वामी दयानंद की मृत्यु के पश्चात् उनके स्मारक के रूप में १८८६ ई० में डी० ए० वी० कालिज की स्थापना हो चुकी थी और लाला जी वकालत के काम से पर्याप्त समय बचाकर आर्यसमाज और डी० ए० वी० कालिज के काम के लिए देते थे।

आरंभ ही से लाला जी को सार्वजनिक सेवा के प्रति आकर्षण था। हिसार में वकालत करते हुए वे वहां की म्युनिसिपल कमेटी के अवैतनिक मंत्री थे। वहां पर हुई एक घटना से लाला जी के चरित्र पर विशेष प्रकाश पड़ता है। एक बार वहां हिसार में पंजाब के लाट साहिब के आगमन का कार्य-क्रम था

और उन्हें म्यूनिसिपल कमेटी की ओर से अभिनंदन पत्र दिया जाना था। म्यूनिसिपल कमेटी के प्रधान वहां डिप्टी कमिश्नर एक अंग्रेज़ थे जो चाहते थे कि अभिनंदन-पत्र अंग्रेज़ी में हो ताकि वे स्वयं लिखें और प्रस्तुत करें और जनता की कठिनाइयों का वर्णन न कर साधारण प्रशंसात्मक बातें कह दें। परन्तु लाला लाजपतराय का आग्रह था कि अभिनंदन-पत्र उर्दू में हो जिसे वे स्वयं लिखें और प्रस्तुत करें और जिस में वे जनता के भावों का समावेश कर सकें। कुछ संघर्ष के पश्चात् लाला जी की बात स्वीकृत की जानी पड़ी।

लाहौर में रहते हुए वे चिरकाल तक डी० ए० वी० कालिज कमेटी के अवैतनिक मंत्री और तत्पश्चात् उपप्रधान रहे। कुछ समय के लिए उन्होंने कालिज में शिक्षण-कार्य भी किया। शिक्षण-कार्य में उनको स्वाभाविक रुचि थी। १९०५ ई० में वे अमेरिका की शिक्षण-संस्थाओं को देखने के लिये उस देश में गए। वहां से लौट कर उन्होंने शिक्षा पर पुस्तकें लिखीं। अंग्रेज़ी राज्य के स्थापित हो जाने से सरकार को ऐसे हिंदुस्तानियों की आवश्यकता थी जो अंग्रेज़ी की शिक्षा पाकर उन छोटी-मोटी असामियों पर आरूढ़ हो सकें जिन के लिए विलायत से अंग्रेज़ नहीं लाए जा सकते थे। इस उद्देश्य से सरकार ने अपने स्कूल कालिज खोले थे और ईसाई मिशनों को स्कूल और कालिज खोलने के लिए प्रोत्साहित किया था। आर्थिक उन्नति के इस स्वाभाविक प्रलोभन से आकर्षित हो, समूह के समूह भार[illegible]

नवयुवक स्कूलों और कालिजों में भरती हो रहे थे। उन शिक्षा-संस्थाओं में शिक्षा पाकर नवयुवक बहुधा ईसाई धर्म के प्रशंसक और हिंदू संस्कृति के निंदक बन जाते थे। इस अवस्था को देख कर आर्यसमाज ने डी० ए० वी० कालिज के रूप में एक ऐसे प्रयत्न का आरम्भ किया था जिससे नवयुवकों को वह पाश्चात्य शिक्षा तो मिले, परन्तु साथ ही हिंदू धर्म और हिंदू संस्कृति के प्रति उनकी श्रद्धा बनी रहे। इस प्रयत्न में ला० लाजपतराय का मुख्य हाथ था।

लाला जी के अन्तःकरण में दुःखियों के दुःख को देख कर द्रवित हो उठने वाला हृदय था। १८६३ ई० में उत्तर भारत में और १८६६ में राजपूताना में जब भीषण दुर्भिक्ष पड़े, तो बुभुक्षा-पीड़ित भारतीय जनता त्राहि-त्राहि करती हुई मृत्यु के गाल में जाने लगी। कितने ही माता-पिताओं ने अपने हृदयों के टुकड़ों को बेच डाला, कितनी ही सती-साध्वी देवियों ने अपनी लज्जा को तिलांजलि दे दी, काल-भगवान् का तांडव नृत्य होने लगा। उस समय आर्यसमाज की ओर से ला० लाजपतराय ने अकाल-पीड़ित जनता की सहायता का बीड़ा उठाया। स्थान स्थान पर घूम कर उन्होंने धन-संग्रह किया और साहाय्य-केन्द्र खोले। दुर्भिक्ष के परिणाम-स्वरूप अनाथ होने वाले बच्चों के लिए अनाथालय स्थापित किये गये। तत्पश्चात् जब कांगड़े के भूचाल से बहुत विनाश हुआ तो पीड़ितों की सहायता के लिए महाप्रयत्न किया गया। उस प्रयत्न की आत्मा भी ला० लाजपतराय थे। १६०७

८ ई० में जब उड़ीसा, मध्य-प्रदेश और संयुक्त-प्रांत में अकाल पड़ा तो भी लाला जी ने कष्ट-निवारण-कार्य में विशेष भाग लिया। १६०५ ई० में उन्होंने आर्यसमाज की ओर से एक सहायक-समिति का संगठन किया जो आजकल की सेवा-समिति के समान थी।

आर्यसमाज का एक आवश्यक कार्य अछूतोद्धार, दलितोत्थान। इस काम में भी लाला जी ने अग्रणी का काम किया। भारत के दुर्भाग्य से छूतछात का रोग भारत को क्षय-रोग के समान खाए जा रहा था। इस रोग के समूल विनाश के लिये जो भागीरथ प्रयत्न पश्चात् गांधी जी ने किया उस का आरम्भ स्वामी दयानन्द और आर्य समाज के कुशल हाथों से हो चुका था। अछूतोद्धार के कार्य के निमित्त लाला जी ने उत्तरीय भारत के कई बड़े २ नगरों का भ्रमण किया और वहां इस विषय पर व्याख्यान दिये। १६१२ ई० में गुरुकुल कांगड़ी में हुए अछूतोद्धार-सम्मेलन के सभापति आप ही थे। इस काम के लिये उन्होंने ४० हजार रुपया जेब से दिया और ईसाई-मुक्ति-सेना के समान एक समिति का संगठन किया। राजनीति के क्षेत्र में आने के पश्चात् भी उन्हें अछूतोद्धार के इस काम में रुचि रही। जीवन के अंतिम कुछ बरसों में उन्होंने इस काम के लिए विशेष समय दिया।

ला० लाजपतराय के जीवन का पहला युग आर्य-समाज के सार्वजनिक कार्य का युग है। तत्पश्चात् उनके कार्य का क्षेत्र राज-

नीति और कांग्रेस हो जाता है। कांग्रेस की स्थापना अंग्रेज़ी सरकार के प्रोत्साहन से हुई थी, ताकि वह देश के सुशिक्षित वर्ग के मनोभावों से परिचित रहे और सन् सत्तावन के आकस्मिक बवंडर जैसी विपत्ति से सुरक्षित रह सके। परन्तु जब कुछ ही वर्ष बीतने पर कांग्रेस की शक्ति बढ़ने लगी और वह देश की प्रतिनिधि राष्ट्रीय संस्था का रूप धारण करने लगी, तो सरकार को चिन्ता पड़ी और उसने कई गण्यमान्य भारतीयों द्वारा ही इस का विरोध करवाना आरम्भ कर दिया। इस विरोध में सब से अधिक शक्तिशाली हाथ सर सैयद अहमद खाँ का था। किसी समय वे राष्ट्रीयता के रंग में रंगे थे और बिना जाति-भेद के अखिल भारत के पुनरुत्थान के लिये प्रयत्नशील थे। उस समय लाला जी के पिता सर सैयद के बड़े भक्त और श्रद्धालु थे। सर सैयद के परिवर्तित हो जाने पर लाला जी के पिता और स्वयं लाला जी ने उनके विरोध में कई खुली चिट्ठियाँ पत्रों में छपवाईं। कांग्रेस का काम भी उन दिनों केवल वार्षिक अधिवेशनों तक सीमित था, वक्तृतायें देना और प्रस्ताव पास करना मात्र था। लालाजी उन अधिवेशनों में जाया करते थे। १८८८ ई० में बनारस में हुए कांग्रेसाधिवेशन में लाला जी सर सैयद की नीति के विरुद्ध बड़े आवेग से बोले थे। उनके उस भाषण की पत्रों में प्रशंसा भी हुई थी, परन्तु अभी बरसों तक लाला जी की भाषण-शक्ति का प्रधान क्षेत्र आर्य-समाज ही रहा। १९०५ ई० में कांग्रेस की ओर से वे श्री गोखले के साथ इंग्लैंड

गए ताकि भारतीय दृष्टिकोण को पार्लिमैंट के सदस्यों के सामने प्रस्तुत करें। वहां पर उन्होंने एक मास में ४० व्याख्यान दिये और लेख भी लिखे। उस डैप्यूटेशन में जाने का जो प्रभाव उन पर पड़ा उसको उन्होंने लौटकर भारत में इन शब्दों में प्रकट किया "एक अंग्रेज भीख मांगने से अधिक किसी बात से घृणा नहीं करता। मैं समझता हूँ कि भिक्षुक इसी योग्य है कि उससे घृणा की जाय। इस लिये अंग्रेज को यह दिखा देना हमारा कर्त्तव्य है कि हमें अपनी अवस्था का अनुभव हो गया है और अब हम भिक्षुक नहीं हैं।"

१९०५ ई० तक कांग्रेस अधिकतया भिक्षुक-वृत्ति ही का आश्रय लेती रही। यदि उसने कभी कठोर शब्दों का प्रयोग भी किया तो उसी प्रकार जैसे कोई भिक्षुक प्रार्थना के साथ २ शाप देने का डर दिखाता है। १९०५ ई० में भारत के राष्ट्रीय आंदोलन में जीवन-स्फूर्ति का संचार हो गया। भारतीय जागरण को दबाने के उद्देश्य से लार्ड कर्ज़न ने १९०५ में बंगाल के दो टुकड़े कर दिए। इस आघात ने बंगाल की रग २ में उष्ण रक्त प्रवाहित कर दिया। अखिल बंगाल आंदोलित हो उठा। उसी बरस जापान ने रूस को पराजय दी थी और इस घटना से एशिया के देश २ में प्रसन्नता और आवेग की लहर दौड़ गई थी। एक छोटे से एशियाई देश को, जो अभी अचिर जागृत था, योरुप की एक महान् शक्ति पर विजय प्राप्त होना एक आश्चर्यजनक घटना थी। उस घटना ने भारत की प्रगति को अंकुश का काम दिया। भारतीय

जागरण का केंद्र बंगाल था। बंगाल से विदेशी माल के बहिष्कार और स्वदेशी का आंदोलन चला। लाला लाजपतराय ने और लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक ने बंगाल के इस आंदोलन का पोषण किया। राष्ट्रीयता और जागरण की वह ज्योति बंगाल से पंजाब में पहुँची। पराधीनता के घाव तो देश के समूचे शरीर पर थे, परन्तु वह वेदना जागृति का रूप वहीं धारण कर सकती थी जहां उपयुक्त नेता हो। लाला जी उस समय पंजाब के उपयुक्त नेता थे, बाल लाल और पाल, अथवा बालगंगाधर तिलक, लाला लाजपतराय और विपिनचंद्रपाल।

१९०७ में यह जागृति पंजाब में एक विशेष रूप धारण कर गई। उस समय सरदार अजीतसिंह के प्रयत्न से लाहौर में देश-प्रेमी-सभा की स्थापना हुई जिसकी साप्ताहिक बैठक में सैंकड़ों लोग आते थे। उस समय लायलपुर के ज़िले में किसानों को सिंचाई-कर की वृद्धि पर आपत्ति थी। उन्हीं दिनों लाहौर के पत्र 'सिविल एण्ड मिलिटरी गज़ट' ने भारतीयों के प्रति ईर्ष्या-द्वेष-पूर्ण लेख निकाले और लोकप्रिय पत्र 'पंजाब' पर देश-द्रोह का अभियोग चला। इन सब बातों से पंजाब में आवेग बढ़ गया। उधर बंगाल में जन २ के उत्तेजित कंठ से 'के बोले मा तुमि अबले' की ध्वनि निकल रही थी और उधर पंजाब में घर २ 'पगड़ी सँभाल ओ जट्टा' का उग्र गान गाया जा रहा था। रावल-पिंडी में कुछ माननीय व्यक्तियों पर सरकार ने विद्रोह का एक निराधार अभियोग चलाना चाहा। उनकी सहायता के लिए

लाला जी वहाँ जा पहुंचे। कचहरी में जनता की भीड़ लग गई। अभियोग स्थगित करना पड़ा, परन्तु संवृद्ध उत्तेजना के कारण जनता अंग्रेज़ अधिकारियों की कोठियों में घुस गई। बड़ी कठिनता से जनता के आवेग को नियंत्रित किया गया। सरकार पंजाब के इस सारे उपद्रव की जड़ लाला जी ही को समझती थी। उनके बंदीकरण की अफ़वाहें प्रतिदिन उड़ती थीं। लाला जी भी तैयार थे। उनका परिवार लुधियाना में था और केवल एक लड़का पास था। जिस २ को उन्हों ने पत्र लिखने थे, लिख दिए थे। अंततः एक दिन जब वे कचहरी जाने को उद्यत थे, उनको बंदी करके जेल में पहुंचा दिया गया। उस समय के अपने भावों को लाला जी ने अपनी 'निर्लज्जता की कहानी' में इस प्रकार लिखा है :—

"सब से पहले मैंने ऐसा अच्छा अवसर उपस्थित करने के लिए परमात्मा का धन्यवाद किया क्योंकि इस समय मेरे पिता, मेरी स्त्री तथा बच्चों में से कोई उपस्थित न था। उन में से किसी के रहने पर जो हृदय-विदारक दृश्य उपस्थित होता उसें देखकर चित्त विचलित हो जाना कोई बड़ी बात न थी। दूसरी बात जिस के लिए मैंने परमात्मा का धन्यवाद किया, वह यह थी कि मेरी माता का देहांत हो चुका था। मुझे अपने पिता की चिंता तो थी किंतु यह विश्वास था कि वे दृढ़ हृदय के पुरुष हैं, इसलिए विचलित न होंगे। मैं अपने बच्चों और स्त्री की ओर से भी निश्चिंत था क्योंकि ये लोग भी मेरे पिता की देख-रेख में थे। इस प्रकार

अपनी कुटुम्ब-सम्बन्धी बातों का विचार करने के बाद अपनी परिस्थिति के विषय में स्वतन्त्रतापूर्वक विचार करने लगा। मुझे अपने अन्दर किसी प्रकार का मानसिक अथवा नैतिक दुर्बलता का कुछ पता न लगा और न अपने विचारों से डगमगाने का मुझे कोई कारण प्रतीत हुआ। बाल्यावस्था ही से मुझे परमात्मा पर पूर्ण विश्वास था। यही विश्वास इस समय भी मुझे बल दे रहा था। मुझे अपनी तात्कालिक अवस्था में संकटों को सहने की अधिक शक्ति प्राप्त हुई। मैंने अपने आपको इस आत्म-निरीक्षण में अत्यन्त दृढ़ पाया। मैंने प्रभु से प्रार्थना की कि मुझे इन कठिनाइयों को सहन करने का बल दे और मुझ से जान या अनजान में कोई ऐसा कार्य न होने दे जिस से मातृभूमि की सेवा के मेरे उद्देश्य में किसी प्रकार की अड़चन आए या मेरा समाज किसी तरह अपमानित और लज्जित हो।"

उसी रात लाहौर से स्पैशल गाड़ी के द्वारा, प्रस्थान किया गया। गाड़ी पंजाब के हृदय-सम्राट्, पंजाब-केसरी, लाला लाजपतराय को लेकर, निद्रानिमग्न पंजाब को लांघकर, गंगा और यमुना को पार करती हुई कलकत्ता पहुंची। डायमंड हार्बर से उन्हें जहाज के द्वारा रंगून और रंगून से रेल के द्वारा मांडले पहुँचाया गया। गाड़ी पहुँचने के समय मांडले का स्टेशन खाली करवा दिया गया था। १६ मई को वे मांडले पहुँचे। उनके निर्वासन से जनता में बहुत असन्तोष फैला। गोखले और तिलक ने सरकार के इस कार्य की घोर निंदा की। ब्रिटिश पार्लिमैंट में चर्चा हुई।

अंत में मुक्त होकर १८ नवम्बर को वे लाहौर पहुँचे। मांडले जेल में पांच छः मास का वह समय उन्हों ने मार्मिक पुस्तकों के अध्ययन और लेख-लेखन में व्यतीत किया।

उस समय बंगाल में क्रांन्तिकारियों का बल बढ़ रहा था। सरकार के विरुद्ध देश का क्रोध बम-विस्फोट के रूप में निकल रहा था, सरकार की दमन-नीति भी उग्र हो रही थी। लोकमान्य तिलक बंदी किये गये और उन्हें छः बरस के कारावास का दंड मिला। १९०८ ई० में लाला जी इंग्लैंड गए। वहां पर उन्हों ने भारत की परिस्थिति पर व्याख्यान दिए और लेख लिखे। उस देश में स्थित भारतीय विद्यार्थियों में जागृति पैदा की। १९०९ में वे भारत लौटे। उस समय उन्हों ने 'पंजाब हिंदू सभा' की स्थापना की, जिस में सभी हिंदू वर्ग और सम्प्रदाय एक मंच पर एकत्र हो सकें। सभा का पहला अधिवेशन श्री परतूलचंद्र चटर्जी की अध्यक्षता में हुआ। यह हिंदू सभा मानों भावी हिंदू सभा का बीज थी। १९१० ई० में वे अपने पुत्र को, जो विलायत में पढ़ता था और वहीं बीमार हो गया था, लेने के लिए विलायत गए। भारत लौट कर भी पुत्र का स्वास्थ्य ठीक न हो सका और १९११ में उसकी मृत्यु हो गई। इस आघात को विस्मृत करने के लिए वे और अधिक तन्मयता से काम में लग गए। उन्होंने एक शिक्षा-संघ स्थापित किया जिस का उद्देश्य शिक्षा-प्रसार था। और अपने पिता जी के स्मारक के रूप में जगरांव में 'राधाकृष्ण हाई स्कूल' स्थापित किया।

१६०७ ई० के पश्चात् लाला जी देश में न रहने के कारण और कांग्रेस की पारस्परिक फूट से ऊबकर कांग्रेस से अलग ही रहे थे। १६१२ ई० की बांकीपुर-कांग्रेस में वे सम्मिलित हुए। उस अधिवेशन में श्री गोखले ने दक्षिण-अफ्रीका-स्थित भारतीयों की दुर्दशा का हृदय-विदारक चित्र खींचा। लाला जी ने भी इस विषय पर एक ओजस्वी भाषण दिया। कुछ ही समय पश्चात् दक्षिण अफ्रीका में गांधी जी ने सत्याग्रह का आरम्भ कर दिया। इससे देश में बड़ी जागृति फैली! उस समय तक भारतवासियों के पास प्रार्थना और याचना के अतिरिक्त दूसरा कोई ऐसा साधन न था जिसे वे अपने अधिकारों को मनवाने के लिए सरकार के विरुद्ध सामूहिक रूप में प्रयुक्त कर सकते। गांधी जी ने सत्याग्रह का नया नैतिक शस्त्र भारत तथा संसार को दिया। जैसे २ दक्षिण अफ्रीका में सत्याग्रह-आंदोलन अधिक उग्र रूप धारण करता गया वैसे २ भारत में उसकी सहायता के लिए कार्य बढ़ता गया। लाला जी ने पंजाब में भ्रमण करके और व्याख्यान देकर २५ हज़ार रुपया इकट्ठा करके दक्षिण अफ्रीका भिजवाया। १६१४ में इसी सत्याग्रह-आंदोलन के संबंध में डैप्यूटेशन के साथ लाला जी विलायत गए। परन्तु इस भिक्षा-वृत्ति से उन्हें न कुछ आशा थी और न इसका परिणाम हुआ। डैप्यूटेशन के अन्य सदस्य तो लौट आए परन्तु लाला जी वहीं रहे। वहां पर उन्होंने आर्य समाज पर एक पुस्तक लिखी। इंग्लैंड से वे जापान चले गये। १६१४ के कांग्रेस-अधिवेशन के लिए जो

मद्रास में होना था, अधिक प्रांतों ने लाला जी को अध्यक्ष निर्वाचित किया था परंतु जिन लोगों के हाथों में सत्ता थी। वे किन्हीं कारणों से लाला जी की अध्यक्षता नहीं चाहते थे और उन्होंने प्रांतों से अपने मत वापिस लेने का अनुरोध किया।

जापान से लाला जी भारत लौटना चाहते थे परंतु युद्ध छिड़ जाने के कारण उन्हें भारत आने के लिए पासपोर्ट न मिला। जापान से वे इंग्लैंड और फिर इंग्लैंड से अमेरिका चले गए। तब से लेकर १६२० के आरंभ तक वे अमेरिका ही में रहे। युद्ध समाप्त हो चुकने के पश्चात् भी उन्हें तब तक भारत आने की आज्ञा न मिली जब तक योरुप में संधि होकर शांति स्थापित न हो गई। अमेरिका में लाला जी चुपचाप नहीं बैठे। वहां पर उन्हों ने भारतीय राष्ट्रीयता का संदेश दिया और भारतीय स्वाधीनता के लिए कार्य करना आरंभ कर दिया। उनके कार्य के मुख्य साधन थे—व्याख्यान तथा लेख। उन्होंने "तरुण भारत" (यंग इंडिया) नाम का साप्ताहिक पत्र निकाला, जिसका सम्पादन-कार्य वे स्वयं करते थे। वहां पर उन्हों ने 'इंडिया होमरूल लीग' की स्थापना की, जिस के सभापति तथा कोषाध्यक्ष वे स्वयं थे। अमेरिका के बहुत से नगरों में लीग की शाखायें थीं। भारतीयों के अतिरिक्त कोई ८०० दूसरे व्यक्ति भी सदस्य थे। लीग का उद्देश्य था—युद्ध की समाप्ति पर भारत के लिए स्वभाग्य-निर्णय का अधिकार प्राप्त करना। इस के लिए अमेरिका के पत्रों में भी चर्चा हुई।

अमेरिका में भी खुफिया पुलिस के अंग्रेज लाला जी के

पीछे लगे रहते थे। एक दिन उन्हों ने यहां तक दुस्साहस किया कि जिस कमरे में वे अपने साथियों के साथ परामर्श करने वाले थे, उसमें उन्होंने छिपा कर 'डिक्टोग्राफ' रख दिया। इस यंत्र में यह शक्ति है कि जो कुछ आदमी बोलता है उस में अंकित होता जाता है। संयोगवश उस बैठक में कोई बात ऐसी न हुई कि जिस पर आपत्ति हो सके।

जलियांवाला बाग़ अमृतसर का हत्या-कांड उस समय हुआ जब वे अमेरिका में थे। समाचार सुन कर वे तड़प उठे और भारत लौटने के लिए आकुल हो गए। ऐसे संकट के समय वे अपने प्रांतवासियों के साथ रहना चाहते थे परंतु वे फ़र्वरी १६२० से पहले भारत न पहुँच सके। बहुत देर तक वे मातृभूमि से पृथक् रहे थे। आते ही कार्यव्यग्र हो गए। 'तिलक स्कूल आफ़ पालिटिक्स' की स्थापना की और उर्दू दैनिक पत्र 'बंदेमातरम्' निकला। यह समय भारतीय राष्ट्रीयता के इतिहास में विशेष जागृति का युग था। गांधी जी का भारत के राजनीतिक क्षेत्र पर स्वतः अधिकार हो गया था। कांग्रेस में दो विचार-धारायें चल रही थीं। कुछ लोग कौंसिल-प्रवेश के पक्ष में थे और कुछ असहयोग के पक्ष में। देश की परिस्थिति को देखकर लाला जी भी असहयोग के पक्ष में हो गए। दिसम्बर १६२० में कलकत्ता के विशेष कांग्रेस-अधिवेशन के अध्यक्ष, जिस में गांधी जी का असहयोग का प्रस्ताव पास हुआ, स्वयं लाला जी थे।

उस समय देश की धमनियों में एक नया रक्त संचरित हो

रहा था। गांधी जी भारतीय नैय्या के कर्णधार थे। देश के भिन्न भिन्न वर्ग तथा सम्प्रदाय अपने भेद-भाव को विस्मृत करके मानों स्वाधीनता-देवी के मंदिर में सम्मिलित उपासना के लिए एकत्र थे। हिंदू-मुस्लिम वैमनस्य का नाम न सुना जाता था। भारत का चिर-सुप्त भाग्य जाग उठा था। असहयोग और असहकार का सुदर्शन चक्र चल रहा था। भारतीय सरकार की मानों जड़ें हिल गई थीं। भयभीत-राज्य-सत्ता जनता में आतंक उत्पन्न करना चाहती थी। उग्र दमन-नीति का दौरदौरा था। सब ओर पकड़-धकड़ हो रही थी। साधारण कार्यकर्ता तक नहीं छोड़े गए थे तो लाला जी कैसे बाहिर रह सकते थे। ऐसे समय में सरकार पञ्जाब-केसरी को दहाड़ने के लिए कैसे मुक्त रहने दे सकती थी। ३ दिसम्बर १६२१ ई० को लाला जी बंदी किये गए और उन्हें १८ मास कारावास का दंड मिला। कुछ देर पश्चात् उन्हें छोड़ कर पुनः पकड़ लिया गया और दो वर्ष कारावास का दंड दिया। जेल में लाला जी क्षयरोग-ग्रस्त हो गए। सरकार चाहती थी कि लाला जी मुक्त किए जाने के लिए प्रार्थना करें परन्तु वे दूसरी मिट्टी के बने थे। अंततः सरकार ने उन की बीमारी के कारण उन्हें १६२३ में छोड़ दिया।

लाला जी का स्वास्थ्य अच्छा नहीं रहता था। हिंदू-मुस्लिम फूट का युग आरम्भ हो गया। शत्रु ने हमारी दुर्बलता को पहचान लिया था और उस से लाभ उठाने का भरसक प्रयत्न आरम्भ कर दिया था। लगभग बीस बरस पहले सरकार ने

साम्प्रदायिक वैमनस्य का जो विषाक्त बीज बोया था, उसका घातक फल देश को चखना पड़ रहा था। जहाँ कुछ ही समय पहले देश के स्वत्वों के लिये सम्मिलित आंदोलन था, वहाँ अब हिंदू स्वत्वों और मुस्लिम स्वत्वों की दुहाई थी। देश के उस वातावरण में लाला जी को स्वामी श्रद्धानंद और महामना मालवीय के साथ मिल कर हिंदू महासभा की स्थापना करनी पड़ी। हिंदू महासभा का पहला अधिवेशन बनारस में हुआ।

१९२५ ई० में लाला जी स्वराज्य-दल की ओर से बड़ी कौंसिल में गये और कौंसिल में उस दल के डिप्टी-लीडर भी नियुक्त हुये, परन्तु कुछ समय के पश्चात् मतभेद के कारण उस दल से अलग हो गए। वे किसी प्रस्ताव पर कौंसिल को छोड़ कर चले जाने के पक्ष में नहीं थे। पुनः स्वतन्त्र कांग्रेस-दल बना कर वे स्वराज्य-दल द्वारा खड़े किये गए। पदान्वेषियों का विरोध होते हुए भी दो स्थानों से निर्वाचित हुए। स्वराज्य-दल से अलग होते हुए भी उन्होंने कौंसिल में सदा जनता का पक्ष लिया। मद्रास में हुई कांग्रेस में उन्होंने हिंदु-मुस्लिम एकता के लिए प्रयत्न किया। समझौता करने के उद्देश्य से उन्हों ने सर्वदल-सम्मेलन की ओर से प्रस्तुत की गई नेहरू रिपोर्ट को, कई बातों में मतभेद रहते हुए भी, स्वीकार कर लिया। १९२५ के पश्चात् वे कांग्रेस से पृथक् ही रहे। अंग्रेज़ी सरकार ने भारतवासियों की राजनीतिक माँगों के औचित्य की जाँच करने के लिए एक कमीशन भेजा था, जिस के सभापति के नाम से उसका नाम

'साइमन-कमीशन' प्रचलित हो गया था । वह कमीशन देश में भ्रमण करता हुआ ३० अक्तूबर १६२८ को लाहौर पहुँचने वाला था । अन्य स्थानों की भाँति लाहौर में भी काली झँडियों द्वारा कमीशन के प्रति असंतोष प्रदर्शित करने का कार्यक्रम था । इधर पुलिस भी दमन के लिए तत्पर थी। १४४ धारा लगा दी गई थी, परन्तु जनता जुलूस निकालने और प्रदर्शन करने पर तुली थी। लाला जी उसी दिन युक्त प्रांत की प्रांतीय हिंदू कांफ्रेंस से लौटे थे । १४४ धारा की घोषणा सुन कर उन्हों ने भी जुलूस में सम्मिलित होने का निश्चय कर लिया। दोपहर को जुलूस निकला और लाला जी आगे थे । स्टेशन के पास पहुँच कर जुलूस रुक गया और कमीशन के आगमन की प्रतीक्षा करने लगा। 'साइमन लौट जाओ' और 'वंदे मातरम्' की ध्वनि से आकाश गूंज रहा था। पुलिस से यह सहन न हो सका। एकाएक जनता पर पुलिस की लाठियां बरसने लगीं। एक गोरे ने लाला जी पर भी लाठियां चलाईं जिस से उन की छाती पर चोटें आईं। उसी सायं-काल मोरी गेट के बाहिर रोष प्रकट करने के लिए एक विराट् सभा हुई । जनता की उत्तेजना का पारावार न था। उसी सभा में भाषण देते हुए लाला जी ने ये चिरस्मरणीय शब्द कहे थे—"मेरे शरीर पर पड़ी हुई एक २ चोट ब्रिटिश साम्राज्य के कफ़न की कील होगी।" लाला जी के उस भाषण को जिस ने भी सुना वह भूल नहीं सकता । उस भाषण में उन्हों ने अपनी भावी मृत्यु की ओर भी संकेत किया था।

लाठियों की वह चोट उस समय कुछ अधिक अनुभव नहीं की गई परन्तु तत्पश्चात् उनका स्वास्थ्य बिगड़ता ही गया। शरीरावस्था की अवहेलना करके वे सर्व-दल-सम्मेलन में सम्मिलित होने के लिए देहली चले गए। वहाँ से लौट कर दशा और अधिक बिगड़ गई, तथापि किसी को यह ज्ञान नहीं था कि इस महापुरुष का अंत इतनी जल्दी आ जाएगा। अंततः १७ नवम्बर १६२८ को प्रातःकाल ७ बजे ६३ वर्ष की आयु में 'पंचनद-पंचानन' पंजाब-केसरी चिरनिद्रा में मग्न हो गए।

लाला-लाजपतराय की सर्वप्रियता का अनुमान उस जलूस को देखकर लगाया जा सकता था जो रावी तट पर दाह-संस्कार करने के लिए ले जाई जा रही उन की अरथी के साथ था। लाहौर तो क्या मानों पंजाब उमड़ आया था। जिस जिस ने जहाँ कहीं सुना, सुन कर सन्नाटे में आ गया और उड़ कर लाहौर पहुंचने को आकुल हो गया। जहाँ तक दृष्टि जाती थी जनता का अपार संघट्ट था। सड़कों पर मानों सिरों का दरिया बहा जा रहा था सब ओर से पुष्प-वर्षा हो रही थी। आश्चर्य हो रहा था कि लाहौर में इतने फूल कहाँ से आ गए। कौन ऐसा था जो पुष्पांजलि अर्पित करके अपने को सौभाग्यवान् करना नहीं चाहता था। हाथों से फूल गिर रहे थे और आंखों से आंसू।

सायंकाल हो गया था। अंधकार छाने लगा था। रावी तट पर अपार भीड़ से घिरी हुई चिता जल रही थी। लोग चिता के आस-पास की मिट्टी, स्मरणचिन्ह के रूप में, उठाने के लिए

परस्पर संघर्ष कर रहे थे। कुछ दूरी पर रावी की क्षीण धारा चुप चाप बहे जा रही थी। इधर भगवान् विभावसु बड़ी तन्मयता से उस पञ्जाब-केसरी कहे जाने वाले शरीर को गोदी में धारण किये थे। वह दृश्य भूलने का नहीं है।

लाला जी की मृत्यु पर भारत तथा संसार के महापुरुषों की ओर से उन्हें जो श्रद्धांजलियां भेंट की गईं उन्हें उद्धृत करने के लिए यहां स्थान नहीं है। हां, गांधी जी ने कहा था—"लाला जी तो एक संस्था थे अपने यौवन के समय से ही उन्हों ने देश-भक्ति को अपना धर्म बना लिया था और उनके देश-प्रेम में संकीर्णता न थी। वे अपने देश से इसलिए प्रेम करते थे कि वे संसार से प्रेम करते थे। उनकी राष्ट्रीयता अंतर्राष्ट्रीयता से भरपूर थी···· उनकी सेवाएं विविध थीं। वे बड़े ही उत्साही, समाज-सुधारक और धार्मिक थे।·····ऐसे किसी भी आंदोलन का नाम लेना असम्भव है जिस में लाला जी सम्मिलित न थे। सेवा करने की उनकी भूख सदा अतृप्त हो रही थी। उन्हों ने शिक्षण-संस्थाएं खोलीं, वे दलितों के मित्र बने। जहां कहीं दुःख दारिद्र्य होता वे वहीं दौड़ते थे।"

सर जगदीश चन्द्र बोस

आधुनिक काल में भारत के जिन सुपूतों के कारण भारत का नाम संसार में विख्यात हुआ है, उन में से एक सर जगदीश चन्द्र बोस हैं। भारत के धर्म तथा दर्शन की धाक तो संसार में प्राचीन काल से है, इन विषयों के साथ सम्बन्ध रखने वाले विचार तो अशोक के समय से संसार के अन्य देशों को प्रभावित करते रहे हैं, आध्यात्मिकता तो इस देश की घुट्टी में पड़ी है, परन्तु सर जगदीश चन्द्र वोस ने एक नए क्षेत्र में भारत का नाम उज्ज्वल किया, उस क्षेत्र में प्रसिद्धि प्राप्त की जो पाश्चात्य लोगों से अधिकृत है, विज्ञान के क्षेत्र में नाम पैदा किया। उन्होंने संसार को दिखा दिया कि भारतीय प्रतिभा केवल धर्म, दर्शन, साहित्य और कला ही के क्षेत्रों में अपने चमत्कार नहीं दिखाती प्रत्युत विज्ञान जैसे विषयों में भी उत्कर्ष को प्राप्त हो सकती है। इस रूप में सर जगदीशचन्द्र वोस का जीवन भारत के प्राचीन तथा अर्वाचीन महापुरुषों में एक विशेष स्थान रखता है।

आधुनिक भारत को जितने महापुरुष बंगाल प्रांत ने दिए हैं, उतने किसी दूसरे प्रांत ने नहीं दिए। सर जगदीशचन्द्र भी बंगाल की देन हैं।

ढाका के पास फरीदपुर में एक सरकारी उच्चाधिकारी

भगवानचन्द्र बोस के हां हमारे वैज्ञानिक का जन्म १८५८ ई० में हुआ। भगवानचन्द्र एक विचारशील तथा कर्मनिष्ठ अधिकारी थे। उन के हृदय में अपने देश की उन्नति के लिए, अपने देशबासियों की भलाई के लिए, गहरी भावना थी। अपने कर्तव्य के पालन में वे सदा निर्भयता तथा साहस से काम लेते थे। एक बार यह पता लगाने पर कि उन के इलाके में डाकू जनता को तङ्ग कर रहे हैं, उन्होंने अपनी जान को जोखों में डाल कर डाकुओं को पकड़ा। अपनी इस कर्तव्य-परायणता के कारण कई बार उन्हें सङ्कटों का सामना भी करना पड़ा। एक दफा कुछ डाकुओं ने, जिन्हें भगवानचन्द्र ने कड़ा दण्ड दिया था, कारागार से छूटने पर उनके मकान को आग लगा दी। परन्तु भगवानचन्द्र के हृदय में न्याय के साथ दया का भाव भी था। जब एक डाकू ने, जिसे उन्होंने दण्ड दिया था कारागृह से मुक्त हो कर, उन से नौकरी के लिए प्रार्थना की तो उन्होंने उसे अपने हां नौकर रख दिया। इस व्यवहार से प्रभावित हो कर डाकू का जीवन वदल गया। उसे नन्हें जगदीश को पाठशाला ले जाने का काम दिया गया। उसने भी अपने को विश्वास का पात्र सिद्ध किया। एक बार जल-यात्रा में उसने भगवानचन्द्र और उन के परिवार को डाकुओं के आक्रमण से बचाया।

भगवानचन्द्र को अपने देश के उद्योग-धन्धों को उन्नत करने में बहुत रुचि थी। अपनी जमींदारी में वे बहुत सी ऐसी योजनाएं प्रचलित करते रहते थे जिन से कृषि तथा उद्योग की

उन्नति हो। उन्हें अपने देश की भाषा तथा संस्कृति के प्रति भी बहुत प्रेम था। जब जगदीश चार बरस का हुआ तो पिता ने उसे अपने स्थानीय अंग्रेज़ी स्कूल में भेजने की जगह पाठशाला में भेजा। उस समय बंगाल के भद्र लोग अपने बच्चों को अँग्रेज़ी स्कूलों में भेजते थे। पुराने ढङ्ग की पाठशालाएँ केवल निर्धन और निम्न-वर्ग के बच्चों के लिए सीमित थीं। परन्तु भगवान-चन्द्र चाहते थे कि जीवन के आरम्भ काल में पुत्र के अन्तः-करण में भारतीय विचार-धारा का संचार हो जाए और उसे अपने देश की आत्मा से परिचय हो जाए। अपने इस जीवन के बारे में सर जगदीश ने कहा है—"जो खेती करते हैं, पृथ्वी को हरा-भरा करते हैं, उनसे मैंने प्रकृति के प्रति प्रेम की शिक्षा पाई।"

जगदीश की माता उच्च भावनाओं की धार्मिक स्त्री थी। एक उच्चाधिकारी की पत्नी होने पर भी उसे अपने पुत्र के निर्धन सहपाठियों के प्रति बहुत प्रेम था। जब वे बच्चे जगदीश के साथ घर आते तो माता उन्हें प्यार से खिलाती पिलाती। अपनी माता के इस प्रेम-भाव के बारे में सर जगदीश ने कहा है—"माता ही का हृदय है जो उन के प्रति द्रवित होता है जिन्हें मातृ-प्रेम की आवश्यकता है।"

ऐसे माता पिता के हां जगदीश का जन्म हुआ। उच्च-विचार, प्रकृति-प्रेम और भारतीय भाव बालक जगदीश को माता पिता से मिले थे। बचपन से उसे वनस्पति और पशु-पक्षियों से

प्रेम था। उसे पालतू जानवर रखने में भी रुचि थी। पिता के चलाए दस्तकारी स्कूल को वह बड़े चाव से देखता। उसे हाथ से काम करने का बहुत शौक था। खेतों में घूम कर वह बहुत प्रसन्न होता था। जब वह हाई स्कूल में पहुँचा तो स्कूल की प्रयोग-शाला में वैज्ञानिक यन्त्रों को देख कर बहुत प्रभावित हुआ।

पिता को जगदीश से बहुत प्रेम था और वे अपने सरकारी काम-काज से निपट कर कुछ समय उस के साथ भी विताते थे। जगदीश को पिता से प्रश्न पूछने का बहुत शौक था और पिता भी बच्चे की उत्सुकता को शान्त करने का पूरा प्रयत्न करते! इस तरह बचपन ही से जगदीश के अंदर वैज्ञानिक अन्वेषण की भावना थी, विज्ञान की पिपासा थी।

जगदीश को बचपन में महाभारत में बहुत रुचि थी। अर्जुन की अपेक्षा उसे कर्ण के प्रति अधिक श्रद्धा थी क्योंकि कर्ण पराजित भले ही हुआ परंतु उसने अंत तक सफलता के लिए पूरा प्रयत्न किया और साहस नहीं छोड़ा। ऐसी ही धृति, ऐसा ही साहस, जगदीश के अपने पिता में था जिन्होंने अपने देश की कृषि तथा दस्तकारी की उन्नति के लिए बार २ असफल होने पर भी प्रयत्न जारी रखा और इसके लिए अपना सर्वस्व लगा दिया।

कालिज में जगदीश की विशेष रुचि पदार्थ-विद्या तथा वनस्पति शास्त्र में थी, परंतु जब उसने कालिज की शिक्षा समाप्त की तो पिता की आर्थिक अवस्था, उन की उद्योग-सम्बंधी योजनाओं के कारण, बिगड़ चुकी थी और युवक ने इस अवस्था

को सुधारने के लिए आई० सी० ऐस०, राज्य व्यवस्था सम्बन्धी ऊँची नौकरी, पाने का निश्चय किया। परंतु ऐसी अवस्था में भी पिता ने पुत्र से कहा, "मैं नहीं चाहता कि तुम अपने अतिरिक्त किसी दूसरे पर शासन करो।" पिता ने पुत्र को अध्यापक बनने की मति दी। अंततः जगदीश ने डाक्टरी या विज्ञान में से किसी एक विषय के अध्ययन के लिए विलायत जाने का निश्चय किया। परन्तु उस समय एक तो पिता की आर्थिक अवस्था ठीक न होने से और दूसरे भाई की मृत्यु के कारण माता के अस्वस्थ हो जाने से, जगदीश को रुकना पड़ा। कुछ देर तक माता पुत्र को जाने की अनुमति देने का साहस न कर सकी। जगदीश के हृदय में यौरुप जा कर शिक्षा प्राप्त करने की आकांक्षा तो बहुत तीव्र थी परन्तु वह अपनी माता की अनुमति के बिना जाना नहीं चाहता था। अतः वह हिंदुस्तान ही में कोई काम ढूँढने लगा। अंततः माता ने बहुत सोच-विचार के पश्चात् एक दिन पुत्र से कहा—"बेटा, मुझे तुम्हारे विलायत जाकर शिक्षा प्राप्त करने के काम के बारे में अधिक समझ तो नहीं है परन्तु मैं यह देखती हूँ कि तुम्हारे हृदय में सर्वोत्तम शिक्षा प्राप्त की तीव्र इच्छा है। मैं तुम्हारे मार्ग में विघ्न नहीं बनना चाहती। तुम्हारे पिता के पास तुम्हारी शिक्षा के लिये धन भी नहीं है परन्तु मेरे पास भूषण हैं और कुछ धन भी है। मैं तुम को सब कुछ दे दूँगी। तुम जा सकते हो। तुम अवश्य जाओ।"

इंग्लैंड जा कर जगदीश चंद्र ने पहले तो लण्डन में डाक्टरी का अध्ययन आरम्भ किया परंतु जब उसे वहां का जल-वायु रास न आया तो कैम्ब्रिज जाकर विज्ञान का अध्ययन आरम्भ कर दिया। १८८४ ई में० उसने कैम्ब्रिज विश्व-विद्यालय की प्रकृति-विज्ञान की सब से ऊँची उपाधि प्राप्त की और साथ ही लंडन विश्व-विद्यालय की बी० एस० सी की उपाधि ली। विलायत में रहते समय जगदीश चंद्र ने न केवल विज्ञान का अध्ययन ही किया प्रत्युत वह वहां के बड़े २ विज्ञान-विशारदों के सम्पर्क में भी आया। उन के कार्य को देख कर उस के अंदर ज्ञान की पिपासा और धैर्य की वृद्धि हुई। उसने देखा कि विज्ञान के विद्वान् किस प्रकार निरंतर वैज्ञानिक खोज में लगे रहते हैं, और उसने अपने जीवन में उन्हीं विद्वानों का अनुकरण करने की ठान ली।

विलायत से लौटते हुए जगदीश चंद्र अपने साथ, हिंदुस्थान के तत्कालीन वायसराय, लार्ड रिपन के नाम एक पत्र लाया था और उस पत्र से प्रभावित हो कर लार्ड महोदय ने उसे कलकत्ता के प्रैज़ीडैंसी कालिज में पदार्थ-विद्या के प्रोफैसर के पद पर नियुक्त करवा दिया। शिक्षा विभाग ने इस नियुक्ति का बहुत विरोध किया। उस समय तक शिक्षा विभाग के अधिकारियों की और प्रायः सभी अंग्रेज़ों की यह धारणा थी कि हिंदुस्थानी विद्वान् भाषाओं और साहित्य आदि में तो भले ही ऊंचे पदों के योग्य हों परंतु विज्ञान विभाग के उच्च पद तो

पाश्चात्य विद्वानों ही के अधिकार में रहने चाहिएं। लार्ड रिपन के कारण शिक्षा विभाग के अधिकारियों ने जगदीश चंद्र की नियुक्ति तो कर दी, परंतु उस नियुक्ति को अस्थायी रखा। इस का यह अर्थ था कि जगदीश चंद्र को उस पद पर रहते हुए भी उस पद के लिए निर्धारित वेतन का केवल एक तिहाई मिलता। जगदीश चंद्र ने उस पद को तो स्वीकृत कर लिया परंतु जब वेतन का चैक आया तो उसे लौटा दिया। तीन वर्ष तक निरंतर उसने वेतन न लिया, परन्तु काम दिल लगा कर किया। तीन वर्ष के निरंतर परिश्रम से जगदीश चंद्र ने अपनी योग्यता की धाक बिठा दी। शिक्षा विभाग के अधिकारियों को हिंदुस्तानियों की विज्ञान संबंधी योग्यता के बारे में अपनी राय बदलनी पड़ी। जगदीश चंद्र की नियुक्ति को स्थायी किया गया और पिछले तीन वर्ष का पूरा वेतन इकट्ठा दिया गया। अब नवयुवक जगदीश चंद्र एक मान्य और प्रतिष्ठित प्रोफैसर थे।

इन तीन वर्षों में जगदीश चंद्र बोस को जिन कठिनाइयों का सामना करना पड़ा होगा उन का अनुमान इस बात से हो सकता है कि पिता की आर्थिक अवस्था के बिगड़ जाने के कारण उन पर बहुत सा ऋण हो गया था। लेने वालों ने आग्रह किया तो सारी पैतृक सम्पत्ति बेच कर आधा ऋण चुकाया गया। शेष ऋण का आधा भाग माता के बचे खुचे भूषण बेच कर अदा किया गया। जो ऋण शेष रहा उसे जगदीश चंद्र ने

अपना वेतन मिलने पर चुकाया। ऐसी परिस्थितियों में कठोर परिश्रम करके उन्हों ने अपने आप को और हिंदुस्तानियों को इस ऊंचे पद के योग्य सिद्ध किया।

जगदीशचंद्र बोस केवल श्रेणियों को पढ़ा देने मात्र से संतुष्ट नहीं होते थे प्रत्युत अपना बहुत सा समय वैज्ञानिक खोज में लगाते थे। उनकी नियुक्ति के समय कालिज की प्रयोग-शाला की अवस्था बहुत साधारण थी। उस समय कदाचित् किसी को आशा ही न थी कि हिंदुस्तानियों के लिए भी सम्पन्न प्रयोग-शालाओं की आवश्यकता हो सकती है। ऐसी परिस्थिति में जगदीशचंद्र बोस ने अपने व्यय से प्रयोग शाला को उन्नत करना आरम्भ किया। उन्होंने साधारण देसी कारीगरों की सहायता से स्वयं बड़े अच्छे यंत्र बना लिए। उन की खोज पदार्थ-विद्या के संबध में, विशेषतः विद्युत् शक्ति के संबंध में थी। उन के कार्य को देख कर लंडन की रायल सोसाइटी ने उनकी प्रयोग-शाला को आर्थिक सहायता दी। शनैः २ हिंदुस्थान की सरकार का ध्यान भी इधर आकर्षित हुआ और उसने भी सहायता देना आरम्भ किया।

उस समय संसार के कई देशों में विना तार के संदेश पहुंचाने के संबंध में वैज्ञानिक खोज हो रही थी। इटली में मारकोनी, अमेरिका में निकोला टैसला और इंग्लेंड में सर आलिवर लाज इस संबंध में खोज कर रहे थे। जगदीशचंद्र बोस भी इस काम में लगे थे। १८६५ ई० में कलकत्ता के टाऊन हाल में जगदीशचंद्र बोस ने अपने यंत्रों के द्वारा विद्युत् की

लहरें उत्पन्न करके, दूसरे कमरे में लगी बिजली की घंटी को, जो तारों के द्वारा संबंधित नहीं थी, बजा कर लोगों को आश्चर्यान्वित कर दिया। इस प्रकार रेडियो के आविष्कार में हिंदुस्तान का भी हाथ है।

तत्पश्चात् जगदीशचंद्र बोस के अन्वेषणों का विशेष विषय वनस्पति-शास्त्र हो गया। उनकी भारतीय आत्मा में यह आभास स्वतः सिद्ध था कि वनस्पति भी उसी विशाल जीवन का एक अंग है जिस के दूसरे अंग मनुष्य और पशु पक्षी हैं। इस सत्य को भारत के प्राचीन ऋषियों ने साक्षात् कर लिया था और यह संस्कार भारत की आत्मा में अंकित हैं। शेष संसार इस तथ्य से अपरिचित रहा है। जगदीश चंद्र बोस ने ऐसे २ यंत्र आविष्कृत किए जिनकी सहायता से वनस्पति की सजीवता स्पष्ट सिद्ध हो गई। वनस्पति की वृद्धि की गति एक सैकंड में एक इंच का दस लाखवां भाग है। उन के आविष्कृत यंत्रों से यह गति दिखाई देने लगी। उन्होंने दिखाया कि वनस्पति में रस का संचार उसी प्रकार होता है जिस प्रकार मनुष्य के हृदय की गति से रक्त-संचार होता है। उन्हों ने सिद्ध किया कि वनस्पति में भी मनुष्य की भांति श्वासनिश्वास का क्रम चल रहा है। भारत में तो प्राचीन विश्वास चला आता है कि वनस्पति को भी हमारी भांति सुख दुःख का अनुभव होता है।

जगदीश चंद्र बोस को डैप्यूटेशन पर इंग्लैंड भेजा गया, जहां उन्हों ने अपने अन्वेषणों के संबंध में व्याख्यान दिए।

उन्हों ने यौरूप का भी भ्रमण किया और यौरूप के वैज्ञानिकों से मिल कर अपने अन्वेषणों के संबंध में बातचीत की । यौरुप के बहुत से विद्वानों ने वनस्पति की सजीवता के संबंध में उनके सिद्धांतों पर विश्वास न किया। यौरुप के लिए यह बात नई थी कि वनस्पति के जीवन का मानव जीवन के साथ ऐसा सादृश्य है। अतः जब दूसरी बार जगदीशचंद्र बोस यौरुप के भ्रमण के लिए गये तो अपने साथ ऐसे ऐसे यंत्र ले गए जिनकी सहायता से उन्हों ने वहां के विद्वानों पर अपने सिद्धांतों की सत्यता को सिद्ध करके दिखा दिया। यौरुप के बहुत से विश्वविद्यालयों ने उन्हें अपनी डाक्टर की उपाधियां देकर अपने को कृत-कृत्य माना । भारत लौटने पर उन्हें देश के भिन्न २ भागों से व्याख्यान देने के लिये निमंत्रण आने लगे।

५७ वर्ष की आयु में वे अपने पद से रीटायर हुए । उस समय तक उन का मुख्य काम तो पढ़ाना था । अपना खोज संबंधी काम उन्हों ने अपने खाली समय में किया था । उन्होंने अपने विद्यार्थियों के अंदर भी वैज्ञानिक खोज की पिपासा उत्पन्न की और उनके बहुत से विद्यार्थियों ने उनके निरीक्षण में बहुत काम किया। रीटायर होने पर सरकार ने उन्हें उसी वेतन पर वैज्ञानिक अन्वेषण के काम के लिए नियुक्त कर दिया ।

१९१५ ई० में बोस-अन्वेषण-संस्थान की स्थापना हुई । इस संस्थान में उन्हों ने स्वयं अन्वेषण कार्य किया और अपने विद्यार्थियों से कार्य करवाया । १९३७ ई० तक वैज्ञानिक का

जीवन व्यतीत करने के पश्चात् ७६ वर्ष की आयु में उनकी मृत्यु हुई।

सर जगदीश चंद्र बोस के अंदर प्राचीन ऋषियों की सी सूक्ष्म-दर्शिता थी। उन्हों ने प्रकृति के तत्वों को अपने अंतःकरण में साक्षात् किया और अपने यंत्रों के द्वारा उन्हें दूसरों के आगे सिद्ध किया। उनके अंतःकरण में भारतीय संस्कृति के प्रति अगाध श्रद्धा थी और भारतीय राष्ट्रीयता का अभिमान था। माता-पिता के प्रति उनकी भक्ति और श्रद्धा अद्‌भुत थी।

अपने वैज्ञानिक अन्वेषणों और आविष्कारों के कारण वे संसार के प्रसिद्ध विज्ञान विशारदों में माने जाते थे। उनके कार्य के सन्मान के रूप में सरकार ने उन्हें 'सर' की उपाधि दी थी। पराधीन भारत में उत्पन्न होकर साधनों की अनुपस्थिति में, परिस्थितियों की प्रतिकूलता में, उन्हों ने संसार में देश का नाम उज्ज्वल किया। स्वाधीन भारत जगदीश चंद्र बोस पर सदा गर्व करेगा।

कवि-सम्राट् रवींद्रनाथ टैगोर

कवि-सम्राट् के पिता महर्षि देवेंद्रनाथ टैगोर ब्रह्मसमाज के नेता, प्रसिद्ध देश-सुधारक और प्रतिभाशाली व्यक्ति थे। 'टैगोर' शब्द 'ठाकुर' शब्द का अंग्रेजी अपभ्रंश है। टैगोर परिवार कलकत्ते का एक प्रसिद्ध, सम्पन्न और कला-प्रिय परिवार रहा है। ऐसे परिवार में और ऐसे पिता के यहां कलकत्ते के जोड़ासांकू मुहल्ले और द्वारकानाथ लेन में स्थित 'ठाकुर वंश' के निजी भवन में हमारे भावी कवि-सम्राट् का जन्म १८६१ ई० में हुआ।

बालक रवींद्रनाथ बहुत से भाई-बहिनों से छोटा था। टैगोर-परिवार एक विशाल परिवार था और घर में बहुत से बच्चे थे। पिता एकांतप्रिय थे। वे बहुधा घर से बाहिर रहते और घर आते भी तो उनका कमरा बच्चों की पहुँच में न था। माता शारदादेवी का स्वास्थ्य अच्छा न रहता था और अन्ततः रवींद्रनाथ की बारह बरस की आयु में उनकी मृत्यु हो गई। रवींद्र का बचपन नौकर-चाकरों की देख-रेख में गुज़रा। नौकर-चाकरों के नियन्त्रण का एक अद्भुत उदाहरण उन्होंने अपनी स्मृतियों में दिया है—"वे कहीं बाहिर जाते समय, बच्चों को उपद्रव से और इधर-उधर चले जाने से रोकने के लिये उनके चारों ओर एक रेखा खींच देते और कह जाते कि यदि उन्होंने रेखा को पार किया तो उन पर सीता की तरह भयानक

संकट आएगा।"

सब प्रकार के अध्ययन-अध्यापन का प्रबंध घर पर होने के अतिरिक्त रवींद्र को पहले एक और तत्पश्चात् दूसरे, स्कूल में भी भर्ती किया गया, परन्तु उसका मन स्कूल के वातावरण से ऊबता था। बालक रवींद्र के अंदर तो प्राचीन भारत के उन ऋषियों की आत्मा थी जो तपोवनों में, प्रकृति की गोद में, सौंदर्य के वातावरण में, जीवन-यापन करते थे। कलकत्ता के स्कूल की दीवारें, निर्जीव ईंट-पत्थर के बने कमरे, अध्यापकों का लोह-कठोर अनुशासन, रसहीन शिक्षा-प्रणाली और शुष्क विषय उसके हृदय को कैसे आकर्षित कर सकते थे। उसकी स्वतंत्र आत्मा के लिये तो स्कूल कारागृह के समान था। स्कूल जाने के दिनों की एक छोटी सी घटना से बालक की सरलता, सहृदयता और उदारता का बहुत अच्छा परिचय मिलता है। एक दिन जब उस की अपनी कक्षा में अध्ययन करने वाले टैगोर-परिवार के एक दूसरे विद्यार्थी को स्कूल में किसी बात पर पुरस्कार मिला तो घर आते ही रवींद्र ने इतनी प्रसन्नता से घर वालों को समाचार सुनाया मानों स्वयं उसको वह पुरस्कार मिला हो। घर में पठन-पाठन नियमित रूप से चलता था परंतु रवींद्र को घर पर पढ़े जाने वाले भी शुष्क विषयों में रुचि न थी।। हाँ, जिन विषयों में उसे रुचि थी, जैसे कि साहित्य आदि, उन विषयों में उसका अध्ययन विशाल था और गति अद्भुत थी। जब कोई रुचिकर पुस्तक मिल जाती तो समाप्त

किए विना रवींद्र को चैन न पड़ती थी।

रवींद्र को बचपन से प्रकृति-निरीक्षण में भी बहुत रुचि थी। छोटी आयु में जब घर से बाहिर निकलना वर्जित था तो घर के आँगन का वह कोना जहाँ कुछ वृक्ष लगे थे, उसका प्रिय स्थान था। प्राकृतिक-प्रेम की यह देन कदाचित् रवींद्र को पिता से मिली हो। देवेंद्रनाथ टैगोर भी प्रकृति-प्रेम के मतवाले थे। कई दफ़ा नाव की यात्रा में किसी सुन्दर स्थान के पास से गुज़रते तो वहीं नाव रुकवा देते और आगा-पीछा भूल कर सौंदर्य-रसास्वादन में निमग्न हो जाते।

आठ बरस की आयु में रवींद्र ने कविता लिखना आरम्भ कर दिया था। बारह बरस की आयु की लिखी उनकी कविता एक पत्रिका में छपी मिलती है। साहित्यिक पत्रिका 'भारती' का सम्पादन घर ही में होता था। रवींद्र को उसमें कविता, निबंध और अन्य रचनायें लिखने का अवसर सुलभ था। यह पत्र आज भी बंगला के प्रतिष्ठित पत्रों में से है। १८६१ ई० में अपने एक भतीजे के सहयोग से रवींद्र ने एक और साहित्यिक पत्र 'साधना' निकाला जिसके लिए अधिकतर स्वयं उन्हें ही लिखना पड़ता था। रवींद्रकी प्रतिभा सर्वतोमुखी थी। कविता, कहानी, निबंध, नाटक, उपन्यास कुछ भी उस प्रतिभा की पहुँच से बाहिर न था।

१७ बरस की आयु में रवींद्र को उसके बड़े भाई सत्येंद्रनाथ टैगोर के पास, जो अहमदाबाद में जज थे, भेज दिया

गया। वहाँ से उसे अपने उसी भाई और उसके परिवार के साथ विलायत जाने का अवसर मिला। वह लगभग दो बरस तक इंग्लैंड में रहा और एक दो शिक्षणालयों में कुछ समय के लिए शिक्षा भी पाई। इंग्लैंड की यात्रा से रवींद्र को कई नए अनुभव हुए। उसने देखा कि वहाँ के लोग किस प्रकार भारत के लोगों से अधिक परिश्रमी और कर्मनिष्ठ हैं।

विलायत से लौट कर रवींद्रनाथ साहित्य-सृजन-कार्य में जुट गए। बीच में एकबार फिर से विलायत जाकर बैरिस्टरी पास करने का विचार हुआ और वे चल भी पड़े परन्तु मद्रास से लौट आए। २२ वर्ष की आयु में रवींद्रनाथ का विवाह श्री वेनराय चौधरी की सुपुत्री मृणालिनी देवी से हो गया। मृणालिनी देवी सती, साध्वी और पति-परायणा महिला थी। इन्हीं दिनों रवींद्रनाथ की भावज, बड़े भाई ज्योतींद्रनाथ की पत्नी का देहान्त हुआ, जिसे वे अपनी माता की मृत्यु के पश्चात् माता ही के समान समझते थे। इस मृत्यु का उनके हृदय पर बहुत प्रभाव पड़ा।

अब पिता जी की आज्ञा से रवींद्रनाथ ने जमींदारी के प्रबंध का कार्यभार संभाला। यद्यपि यह कार्य पहले-पहल कवि-प्रकृति के लिए प्रतिकूल जान पड़ा परंतु रवींद्रनाथ ने इसमें मन लगाया और काम सुचारु रूप से चलने लगा। उस जीवन में पद्मा नदी उनके विनोद का स्थान थी। उसमें नाव पर घूम फिर कर वे जमींदारी का काम देखते और चारों ओर फैले प्राकृतिक सौंदर्य का रस लेते। उस अवस्था में भी साहित्य-रचना

और गान-वादन उनके साथी रहे।

बाल्यकाल ही से रवींद्रनाथ टैगोर को भारतवर्ष में प्रचलित शिक्षा-प्रणाली के प्रति अरुचि और अश्रद्धा थी। उनके सामने प्राचीन भारत के ऋषि-आश्रमों का आदर्श था। उनके अंतःकरण में बहुत देर से एक ऐसी आदर्श-संस्था स्थापित करने की आकांक्षा थी जिस में विद्यार्थियों की शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक शक्तियों का पूरा विकास हो सके। अन्त में अपने आदर्श को कार्यान्वित करने के लिए वे १९०१ ई० में शांति-निकेतन नाम के उसी स्थान पर जहाँ महर्षि देवेंद्रनाथ आत्मचिंतन और एकांतवास के लिए जाया करते थे, एक ब्रह्मचर्याश्रम स्थापित करके जा बैठे। उस आश्रम में पुरानी पद्धति के अनुसार शिक्षा-दीक्षा का कार्य होता था। रवींद्रनाथ टैगोर स्वयं खेलने कूदने, कहानियां सुनाने और भोजन आदि में विद्यार्थियों का साथ देते। आश्रम के व्यय को चलाने के लिए इन्होंने अपने एक सुन्दर मकान और पुस्तकालय को बेच डाला। इसी के लिए उनकी धर्मपत्नी ने अपने भूषण बेच दिए। उनकी धर्मपत्नी स्वयं भोजन बनातीं और अपने हाथों से विद्यार्थियों को खिलातीं। उस साध्वी को बहुत थोड़ा काल आश्रम की सेवा करने का अवसर मिला। १९०२ ई० में उनका देहांत हो गया। रवींद्रनाथ के लिए यह एक भीषण वज्रपात था परन्तु जीवन में बहुधा एक के बाद दूसरी दुःखद घटनाएँ मनुष्य के धैर्य की परीक्षा करती हैं। अगले ही वर्ष उनकी छोटी पुत्री की मृत्यु हो

गई। १९०५ ई० में महर्षि देवेंद्रनाथ परलोक को चल दिए।

१९१२ ई० में वे अपने आश्रम को समुचित रूप से उन्नत करने के लिए पश्चिम की शिक्षा-संस्थाओं को देखने के विचार से विलायत गए। वहाँ उनका परिचय आयरलैंड के प्रसिद्ध कवि यीट्स से हुआ। रवींद्रनाथ ने गीतांजलि की अपनी कुछ कविताओं का स्वयं अंग्रेजी अनुवाद किया था, जिन्हें पढ़ कर यीट्स महोदय मुग्ध हो गए। उन्होंने उन कविताओं को इंग्लैंड के अन्य विद्वानों और साहित्य-सेवियों तक पहुँचाया। होते २ उनकी ख्याति योरुप के अन्य देशों के विद्वानों तक पहुँची। स्वीडन देश के एक वैज्ञानिक ने अपनी सारी आय एक ऐसी विद्वानों की सभा को सौंप रखी है जो उस आय से प्रतिवर्ष भिन्न २ विषयों के अग्रगण्य महारथियों को पुरस्कार देती है। एक पुरस्कार १ लाख २० हजार रुपये का होता है और उसका नाम उक्त वैज्ञानिक के नाम पर नोबेल-पुरस्कार है। जब उस सभा के सदस्यों तक कवि-सम्राट् की कृति 'गीतांजलि' का अनुवाद पहुँचा तो उन्होंने उस कृति को पुरस्कार के योग्य निर्णीत किया। १९१३ ई० में जब रवींद्रनाथ योरुप और अमेरिका के भ्रमण के पश्चात् भारत पहुँचे तो कुछ ही दिनों बाद उन्हें नोबेल-पुरस्कार प्राप्त होने की सूचना मिली। इससे पहले एशिया में किसी को यह पुरस्कार नहीं मिला था। भारतीयों के हर्ष का पारावार न रहा। राष्ट्रीय आत्म-सम्मान जागृत हो उठा। शांति, निकेतन में कवि का अभिनन्दन करने के लिए कलकत्ते से स्पेशल

गाड़ी में प्रतिष्ठित नागरिक पहुँचे।

अब रवींद्रनाथ टैगोर केवल भारत के न रह कर सकल संसार के हो गए थे। संसार ने उन्हें भारतीय संस्कृति के प्रतिनिधि के रूप में स्वीकृत कर लिया था और सब देश उनके संदेश को सुनने के लिए लालायित थे। वे विश्व-संस्कृति के अग्रदूत बन कर विश्वयात्रा के लिए निकले। जहाँ वे गए वहाँ उन्होंने उन आदर्श सिद्धांतों का सन्देश सुनाया जिनका साक्षात्कार प्राचीन भारत के ऋषियों ने बहुत पहले कर लिया था, और जिन सिद्धांतों को जीवन में सजीव रूप देकर ही मानव सुख और सफलता की ओर अग्रसर हो सकता है। वह संदेश प्रेम, सहानुभूति और समन्वय का संदेश था। विश्व-कवि की मधुर तान को विश्व ने तन्मय होकर सुना और विश्व में भारत का मुख समुज्ज्वल हुआ।

१९१६ ई० में वे दीनबन्धु ऐन्डरूज़ के साथ जापान गए। वहां उनका सार्वजनिक रूप से स्वागत हुआ। जापान की ओर से उस समय चीन के साथ जो अमानुषिक व्यवहार हो रहा था, हमारे वीर कवि ने उसकी तीव्र आलोचना की, जिसे बहुत से जापानियों ने उस समय बुरा माना परन्तु आज का जापान, भारत के उस कवि की चेतावनी और भविष्यवाणी को अवश्य स्मरण करता होगा। जापान से उन्हें कैनाडा जाने का निमंत्रण था परन्तु वे उस व्यवहार के प्रति जो उस समय उस देश में भारतवासियों के साथ होता था, अपने विरोध काप्र दर्शन कर

के लिए वहां न जा कर अमेरिका पहुँचे । वहां भिन्न २ नगरों में उनके भाषण हुए और नाटक भी खेले गए । उस देश में पाए जाने वाले काले-गोरे के भेद-भाव पर उन्होंने कड़ी आलोचना की। विश्वयुद्ध के कारण वे उस समय योरुप न जाकर १९१७ में भारत लौट आए। १९१८ ई० में वे फिर योरुप जाने को उद्यत हुए तो बंगाल सरकार ने उन पर यह आरोप लगा कर कि उनका क्रांतिकारियों तथा जर्मनी के साथ सम्बन्ध है और वे अंग्रेजों के विरुद्ध प्रचार करने जा रहे हैं, उनका जाना रुकवा दिया। कुछ देर तक उन्होंने भारत के नगरों का भ्रमण किया ।

१९२० ई० में उन्होंने योरुप की यात्रा के लिए प्रस्थान किया। वहां उनका जो स्वागत हुआ, उसका वर्णन कठिन है। योरुप अभी २ युद्ध-यातना से मुक्त हुआ था। हर एक देश की जनता कवि की वाणी को अपने घावों पर मरहम के समान समझती थी। अपनी ज्योति को पर्याप्त न पाकर योरुप भारत की इस दिव्य ज्योति की ओर आशा की दृष्टि से देख रहा था।

फ्रांस में महाविद्वान् सिल्वन लेवी ने उनका स्वागत करते हुए कहा कि—"बुद्ध, व्यास, बाल्मीकि, अश्वघोष तथा कालिदास आदि के रूप में जो भारतीय प्रतिभा समय २ पर प्रस्फुटित होती रही है, वही जाज्वल्यमान भारतीय प्रतिभा आज रवींद्र नाथ के रूप में प्रकट हुई है।" डैनमार्क में कोपनहेगन के विश्वविद्यालय में रात को व्याख्यान के पश्चात् छात्रों ने, जिनके हाथों में प्रज्वलित दीपक थे, उन्हें चारों ओर से घेर लिया और

जनता की अपार भीड़ में उनका जुलूस निकाला। डेनमार्क के पश्चात् वे नोबेल-पुरस्कार देने वाले देश स्वीडन में गए। पुरस्कार देने वाली सभा ने उनको निमंत्रित किया, विश्वविद्यालय में उनका अभिनंदन किया गया और वहाँ के प्रधान पादरी और बादशाह के साथ उन्होंने भोजन किया। जर्मनी में उनकी 'साधना' नामक पुस्तक के जर्मन अनुवाद की ५० हज़ार प्रतियाँ तीन सप्ताह में बिक गईं। यही हाल उनकी कई दूसरी पुस्तकों का था। १९२१ में रवींद्रनाथ योरुप की यात्रा से भारत लौट आए।

१९२४ ई० में चीन के निमंत्रण पर वे उस देश में गए। पेकिंग विश्व-विद्यालय से ५ हज़ार विद्यार्थियों के समारोह में उनका अभिनन्दन किया गया। चीन के सम्राट् ने स्वयं कवि सम्राट् का स्वागत किया। चीन को देख कर रवींद्रनाथ पर बहुत-प्रभाव पड़ा। चीन की संस्कृति का भारत की संस्कृति से बहुत प्राचीन सम्बन्ध है और दोनों में बहुत सादृश्य है। अब सैंकड़ों वर्षों से चीन और भारत का सांस्कृतिक सम्पर्क टूट गया था। उस सम्पर्क को पुनः स्थापित करने के लिए रवींद्रनाथ टैगोर ने शांति-निकेतन में चीन भवन की स्थापना की, जिस में चीनी संस्कृति का अध्ययन और चीन और भारत की संस्कृति के समन्वय का प्रयत्न हो रहा है।

रवींद्रनाथ टैगोर ने जैकोस्लावाकिया, आस्ट्रिया, हंगरी, रूमानिया, बलगेरिया यूनान, मलाया, जावा, बाली, स्याम

आदि देशों की यात्राएं भी की थीं और सब कहीं उनका स्वागत किया गया था।

१९३० ई० में कवींद्र ने रूस की यात्रा की। रूस के साम्य-वादी शासन को उन्होंने अपनी आँखों से देखकर उसके सम्बंध में अपने भारतीय मित्रों को पत्र लिखे। रूस के साहित्यिक तथा सांस्कृतिक संस्थाओं ने उनका बड़ी धूमधाम से स्वागत किया। वहां लेखकों के नाटकों का अभिनय भी उन्हें दिखाया गया। रूस की यात्रा से वे बहुत प्रभावित हुए। १९३२ ई० में वे ईरान के बादशाह रजाशाह पहलवी के आमंत्रण पर उस देश में गए और बड़े समारोह से अभिनंदित हुए।

जिस संस्था को रवींद्रनाथ टैगोर ने १९०१ में शांति-निकेतन में एक छोटे से रूप में आरम्भ किया था वह समुन्नत होते होते, १९२१ ई० में विश्वभारती नाम से एक विश्वविद्यालय का रूप धारण कर गई। कवींद्र ने अपनी सम्पत्ति, पुस्तक, पुस्तकों की आय; नोबेल-पुरस्कार का रुपया आदि सब कुछ इस संस्था के लिये अर्पित कर दिया था। उनका जीवन-सर्वस्व इसी संस्था की भेंट था।

विश्वभारती की एक ग्रामसुधार सम्बन्धी शाखा 'श्रीनिके-तन' भी है। इसका आरम्भ एक अंग्रेज़ महानुभाव के दान से हुआ और यह संस्था आसपास के ग्रामों में सुधार का कार्य कर रही है।

रवींद्रनाथ टैगोर केवल कवि और साहित्यिक ही नहीं थे

प्रत्युत वे अन्य बहुत से विषयों के प्रकांड विद्वान् भी थे। १६२८ ई० में आक्सफ़ोर्ड विश्वविद्यालय ने उन्हें दर्शन-शास्त्र पर व्याख्यान देने के लिये वहाँ बुलाया। वह एक अभूतपूर्व सम्मान था जो उस समय तक किसी भारतीय को प्राप्त नहीं हुआ था। उन्होंने ये व्याख्यान देकर अपूर्व ख्याति प्राप्त की।

भारत तथा संसार के बहुत से विश्वविद्यालयों ने उन्हें उपाधियाँ दी थीं। १६४० ई० में आक्सफ़ोर्ड विश्वविद्यालय ने कलकत्ते में एक विशेष दीक्षांत संस्कार करा कर भारत के चीफ़ जस्टिस सर मारिस ग्वेयर की अध्यक्षता में उन्हें डाक्टर आफ़ लैटर्ज़ की उपाधि प्रधान की। भारत के विद्याविलासी तथा साहित्य-सेवी व्यक्तियों ने उन्हें 'कविसम्राट्' 'भारत-भास्कर' और 'कवि-सार्वभौम' आदि कह कर पुकारा। भारत सरकार की दी हुई 'सर' की उपाधि को उन्होंने १६१६ ई० में ठुकरा दिया था।

१६४१ ई० में ७ अगस्त को यह भारत-भास्कर अस्त हो गया, यह कीर्तिमय यशस्वी जीवन शांत हो गया। भारत तथा संसार के साहित्य-संस्कृति-नभ में अंधकार छा गया। ० वर्ष की यात्रा के पश्चात् यात्री अपने अदृश्य आवास-स्थान को चल दिया। विश्वप्रेम का अग्रदूत मूक हो गया।

राष्ट्र-पिता महात्मा गांधी

प्राचीन काल से प्रज्वलित भारतीय जीवन-ज्योति, जो पराधीनत के युग में भी, कभी टिमटिमाती और कभी उग्र-रूप में जलती चली आई थी, और जिस का तेज आधुनिक युग में विशेष वृद्धि को प्राप्त हुआ था, अंततः महात्मा गांधी के रूप के प्रकट हुई। भारत के पिछले पचास साठ वर्ष के इतिहास को पढ़ने से जान पड़ता है कि देश के रङ्गमंच पर गांधी जी के आने से पहले जो राष्ट्रीय तथा सांस्कृतिक कार्य हुआ, वह मानो इस महापुरुष के आगमन की तैयारी थी।

संसार के इतिहास में हम देखते हैं कि जिस देश और राष्ट्र ने कोई नए अस्त्र-शस्त्र बना लिए, वह दूसरों पर विजयी हुआ। भारत का स्वतंत्रता-संग्राम अंग्रेजों जैसी सम्पन्न, बुद्धिमान, सङ्गठित और युद्ध-कुशल जाति के साथ था। पशु-बल में, राजनीति में और सङ्गठन में अंग्रेजी साम्राज्य को मात करना भारत के लिये असम्भव था। हां, यदि भारत को कोई नया शस्त्र मिल जाता जो अंग्रेज़ों के पास नहीं था तो दूसरी बात थी। गांधी जी ने वह नया शस्त्र, सत्याग्रह, आविष्कृत किया। यह शस्त्र या इस के प्रतिकार में सफलता-पूर्वक चलाया जाने वाला कोई शस्त्र अङ्गरेज़ों के मैग्ज़ीन में नहीं था। अतः भारत विजयी हुआ।

शताब्दियों की पराधीनता से भारत की जीवन-धारा क्षीण पड़ गई थी। गुलामी के लम्बे युग में भारत की हड्डियां गल गई थीं। गांधी जी ने अपने रचनात्मक कार्य से उस जीवन-धारा को वेग प्रदान किया, उन हड्डियों में जीवन डाला। उन्होंने भारत के रोग को पहचाना और उस का उपचार आरम्भ किया। भारत के प्राचीन आदर्श स्वतः-सिद्ध रूप में उन के अन्तःकरण में विद्यमान थे और उन्होंने उन आदर्शों को व्यावहारिक रूप दिया। देश ने अपनी आत्मा को गांधी जी में देखा और वह उन पर मुग्ध हो गया। जादूगर ने जनता पर ऐसा जादू किया कि जिधर को उसने उंगली उठाई, उधर को जन-समुदाय चल दिया, जो शब्द उसने मुँह से निकाला वही लोगों ने दोहराया।

पहले महायुद्ध की समाप्ति के समय से ले कर अपने जीवन के अन्तिम क्षण तक भारत के राजनीतिक क्षेत्र पर गांधी जी ही का अधिकार रहा। उनका रचनात्मक कार्य भी निरंतर चलता रहा। अपने पत्रों द्वारा वे प्रायः सभी विषयों पर अपने विचार देते रहे। उन के जीवन का कार्य इतना विशाल है कि चन्द पृष्ठों में उस के साथ न्याय नहीं किया जा सकता। तथापि हम यहां उनके जीवन तथा कार्य की एक संक्षिप्त सी रूप-रेखा देते हैं।

महात्मा गांधी का जन्म पोरबन्दर में उत्तम वैश्य कुल में २ अक्तूबर सन् १८६९ ई० में हुआ था। पोरबन्दर गुजरात

के एक राज्य की राजधानी थी। गांधी जी के पूर्वज वहां के राजाओं के मंत्री रहते आए थे। गांधी जी के पिता कर्मचन्द जी २५ वर्ष तक मंत्री रहे। पीछे किसी कारणवश वे अपना पद अपने छोटे भाई को देकर स्वयं राजकोट में बस गए। कर्मचन्द जी बहुत निडर, सच्चे और साहसी थे। गांधी जी की माता भी साक्षात् देवी थीं। उनका स्वभाव बड़ा सीधा और रहन-सहन बड़ा सादा था। पूजा पाठ और व्रत में उनका बड़ा विश्वास था। वे बड़ी दयालु थीं। दुःखियों और ग़रीबों की वे प्रायः सहायता करती थीं। गांधी जी पर अपने माता पिता के स्वभाव का बहुत प्रभाव पड़ा। उपवास और ईश्वर में अटल श्रद्धा आपको माता जी की देन थी।

सात वर्ष की आयु तक गांधी जी की शिक्षा पौरबन्दर की एक पाठशाला में होती रही। उसके पश्चात् वे तीन वर्ष तक राजकोट में और पुनः काठियावाड़ के हाई स्कूल में पढ़ते रहे। आप की आयु अभी बारह साल की ही थी जब आपका विवाह कस्तूर बाई के साथ कर दिया गया। कस्तूरबाई शिक्षित नहीं थी, परन्तु जिस स्नेह और अचल भक्ति से उन्होंने पतिदेव की जीवन यात्रा में अनुसरण किया उससे आधुनिक शिक्षित नारियों को शिक्षा लेनी चाहिये।

ऐन्ट्रेंस परीक्षा में उत्तीर्ण होकर आपने भावनगर कालेज में प्रवेश किया। अभी आप कालेज में पढ़ते ही थे कि एक मित्र ने आपको विलायत जाकर बैरिस्टरी पास करने की सलाह दी।

रन्तु आप की माता इससे सहमत न थीं । उन्हें विलायत में युवकों के आचरण-भ्रष्ट हो जाने का भय था । परन्तु जब आपने वहां जाकर सदाचारी रहने का प्रण किया तो आपको अनुमति मिल गई ।

भारत से विदा होकर गांधी जी सन् १८८८ में लन्दन पहुंचे । विलायत में आपके सामने धर्मच्युत होने के अनेक अवसर आते रहे परन्तु माता जी से किए हुए प्रण ने आपको तालाब में कमल के समान रखा । विलायत में गांधी जी एक किराये का मकान लेकर सादगी के साथ जीवन व्यतीत करते थे और अपने हाथ से स्वयं भोजन बनाते थे। इसी समय गांधी जी के मन में धार्मिक भावों का उदय हुआ । उन्होंने गीता पढ़ी जिसका प्रभाव उनके हृदय पर गहरा पड़ा। तीन वर्ष के बाद बैरिस्टरी की परीक्षा पास करके गांधी जी स्वदेश लौट आये । यहां आते ही आपको अपनी माता के देहावसान की सूचना मिली, जिससे आपको अत्यन्त दुःख हुआ । कुछ दिन के बाद आपने बम्बई में बैरिस्ट्री आरम्भ कर दी ।

पोरबन्दर के एक व्यापारी को दक्षिणी अफ्रीका में एक मुकद्दमा लड़ना था । उसने गांधी जी को अपना प्रतिनिधित्व देकर वहां भेजना चाहा । गांधी जी अपने बड़े भाई के अनुरोध से सन् १८९३ में उस मुकद्दमे की पैरवी करने के लिये दक्षिण अफ्रीका चले गये ।

नेटाल पहुंचते ही आप यह देखकर हैरान हो गये कि

दक्षिण अफ्रीका में रहने वाले भारतीयों को 'कुली' कह कर पुकारा जाता था। कानून की आड़ में उनसे अमानुषिक व्यवहार किया जाता था। गांधी जी मुकदमे की पैरवी के लिए प्रिटोरिया जा रहे थे। उन्होंने रेल के पहले दरजे का टिकट लिया और डिब्बे में बैठ गये। उसी डिब्बे में एक गोरा भी बैठा हुआ था। एक हिन्दुस्तानी को अपने बराबर बैठा देखकर वह तिलमिला उठा और उसने गार्ड को बुलाकर कहा-'उस हिंदुस्तानी को डिब्बे से बाहिर निकाल दो। गार्ड ने गांधी जी को आज्ञा दी कि डिब्बे से बाहिर निकल जायें। जब गांधी जी अपनी जगह से न उठे तो गार्ड ने बलात् डिब्बे से बाहिर निकलवा दिया और ट्रेन चली गई। गांधी जी रात भर प्लेटफार्म पर जाड़े में सिकुड़ते रहे। इसके अतिरिक्त और भी कई ऐसी घटनायें हुई जिनसे गांधी जी के हृदय को बहुत ठेस लगी। अपनी जाति की ऐसी दशा देख कर उनकी स्वाभिमानी आत्मा को भीषण आघात पहुँचा।

सबसे पहले आपने 'नेटाल इण्डियन कांग्रेस' की स्थापना की। आप कई वर्ष तक इसके मंत्री रहे। इसके द्वारा वहां जो प्रचार हुआ उससे वहां के सब शिक्षित भारतीय संगठित हो गये। कांग्रेस ने वहां के कई भारतीय-विरोधी नियमों का सविनय भंग किया।

दक्षिण अफ्रीका ही में गांधी जी ने अपने शस्त्र सत्याग्रह का आविष्कार किया और इसके द्वारा भारतीय-विरोधी नियमों

में सुधार करवाए। गांधी जी के कार्य से दक्षिण अफ्रीका के भारतीयों में जीवन संचार हुआ और वहां की सरकार ने अपनी नीति में कुछ परिवर्तन किया।

१६१५ ई० में गांधी जी ने भारत लौट कर अहमदाबाद के पास साबरमती के तट पर सत्याग्रह आश्रम की स्थापना की। भारत में आ कर गांधी जी ने अपना पहला सत्याग्रह चम्पारण में किया और सफलता प्राप्त की। गांधी जी ने भारत लौट कर कांग्रेस के काम में भी भाग लेना आरम्भ कर दिया था और शनैः २ उन का प्रभाव बढ़ता जा रहा था। लोकमान्य तिलक की मृत्यु के पश्चात् कांग्रेस का नेतृत्व गांधी जी पर आ पड़ा। सरकार की दमन-नीति और जलियांवाला बाग के हत्याकांड के पश्चात् सरकार के विरुद्ध जो आंदोलन उठा उस की बागडोर गांधी जी के हाथ में थी। देश में बड़ी जागृति हुई। गांधी जी की लड़ाई अहिंसात्मक थी। जनता में हिंसा का प्रभाव बढ़ता देख कर गांधी जी ने सत्याग्रह को स्थगित कर दिया। उन पर केस चला और उन्हें छः वर्ष की कैद हुई। बीमारी के कारण उन्हें कारावास की अवधि समाप्त होने से पहले छोड़ दिया गया। तत्पश्चात् कई वर्षों तक गांधी जी रचनात्मक कार्य में लगे रहे। १६३० ई० में उन्होंने पुनः सत्याग्रह-संग्राम आरम्भ किया, जो सफल रहा और जिस के फलस्वरूप सरकार को कांग्रेस से संधि करनी पड़ी। गांधी जी कांग्रेस के प्रतिनिधि बन कर विलायत में राऊंड टेबल कांफ्रेंस पर गए। वहां से लौट कर उन्होंने पुनः

सत्याग्रह आरम्भ किया। सरकार ने १९३५ का भारत का विधान पास किया। तत्पश्चात् गांधी जी कई वर्षों तक रचनात्मक कार्य में लगे रहे। उन्हों ने वर्धा के पास सेवाग्राम में अपना आश्रम बना लिया था।

१९३९ ई० में विश्व-युद्ध आरम्भ हुआ। गांधी जी के नेतृत्व में कांग्रेस ने सरकार से स्वतंत्रता की मांग की परंतु सरकार का मन साफ नहीं था। केवल भविष्य में पूरे किए जाने वाले वादे किए जा रहे थे। १९४२ में गांधी जी ने 'भारत छोड़ो' की घोषणा की। सरकार का दमन-चक्र चला। गांधी जी कांग्रेस के अन्य नेताओं के साथ बंदी किए गए। उन्हें कांग्रेस कार्य-समिति के सदस्यों से पृथक् रखा गया। इसी कैद में गांधी जी की सहधर्मिणी श्रीमती कस्तूरबा की मृत्यु हो गई। १९४४ ई० में गांधी जी को बिना किसी शर्त के मुक्त कर दिया गया। तत्पश्चात् जो कुछ हुआ वह सब आज कल की बातें हैं। ब्रिटिश सरकार को युद्ध की समाप्ति के पश्चात् भारत को स्वाधीन करने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग दिखाई न दिया। भारत को स्वतंत्रता मिली। देश का विभाजन हुआ और देश में विशेषतः पंजाब में जो हत्याकांड हुआ उस के वर्णन की आवश्यकता नहीं है।

देश में ऐसी आग भड़की कि प्राप्त हुई स्वतंत्रता देश के हाथों से निकलती दिखाई दी। गांधी जी अपनी जान को हथेली पर रख कर उस आग में कूद पड़े। वे स्वयं उस आग में जल

मरे परन्तु उसे शांत करके देश की स्वतंत्रता को बचा गए।

१९४८ की ३० जनवरी को एक भारतीय नवयुवक की गोलियों से गांधी जी का बलिदान हुआ। वे देश के लिए जिए थे और देश के लिए मरे।

विचार-धारा

गांधी जी ने देश को तथा संसार को एक विचार-धारा दी है। यद्यपि इस विचार-धारा का आधार प्राचीन है, तथापि उस आधार का विकास और प्रयोग गांधी जी का अपना है। प्रचीन काल से भारतवर्ष के आदर्शों के अनुसार मनुष्य का जीवनोद्देश्य आत्म-साक्षात्कार है और संसार के शेष सब कार्य उस उद्देश्य के चारों ओर घूमते हैं। भारत ने धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को जीवन का ध्येय माना है और इसमें अंतिम मोक्ष ही है। अर्थ और काम, धन और कामनाओं की पूर्ति को गौण स्थान दिया है और उन के साथ धर्म का बंधन लगा दिया है। दूसरे शब्दों में धर्म के अनुसार धन का उपयोग करते हुए और सत्कामनाओं की पूर्ति करते हुए मोक्ष को प्राप्त करना मनुष्य का जीवनोद्देश्य है। प्राचीन काल के भारत का आदर्श यह रहा है कि अर्थ और काम को त्याग कर धर्म और मोक्ष की ओर जाया जाए। भारत के सच्चे ब्राह्मण और संन्यासी यही करते चले आए हैं। इसी आदर्श ने बुद्ध और महावीर को राजपाट छोड़ कर भिक्षु बन जाने के लिए प्रेरित किया। यही भारतीय आदर्श गांधी जी के सामने था।

भारत ने प्राचीन काल से सत्य और अहिंसा को धर्म का मूल सिद्धांत माना है। इन्हीं सिद्धांतों को गांधी जी ने जीवन में धारण करके इन की शक्ति को दिखाया। आज के संसार में व्यक्तिगत जीवन में सत्य का स्थान है परन्तु राजनीति के क्षेत्र में, अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में, सत्य का अधिकार नहीं माना गया है। संसार में व्यापक अशांति के प्रधान कारणों में एक कारण-यह असत्याचरण भी है। एक देश दूसरे देश को धोखा देना बुरा नहीं समझता, एक राजनीतिक नेता दूसरे विरोधी राजनीतिक नेता को असत्य के प्रयोग से पराजित करना निपुणता और बुद्धिमत्ता समझता है। गांधी जी ने राजनीति में भी सत्य की आवश्यकता पर जोर दिया और भारत की स्वतंत्रता की लड़ाई में कभी सत्य को हाथ से जाने नहीं दिया। संसार अनुभव करने लगा है और करेगा कि राजनीतिक क्षेत्र तथा अंतर्राष्ट्रीय व्यवहार में सत्याचरण को अपनाए बिना संसार में शांति स्थापन करना असम्भव है।

ऐसे ही अहिंसा को किसी न किसी रूप में तो संसार के सभी धर्मों ने माना है परन्तु भारत ने तो अहिंसा ही को परम धर्म कहा है। गांधी जी से पहले अहिंसा का स्थान व्यक्तिगत जीवन में ही माना गया था। राजनीतिक संघर्ष में अहिंसा को स्थान देने वाले गांधी जी ही हैं। संसार के बहुत से देशों ने अपनी २ स्वतंत्रता के लिए लड़ाइयां लड़ीं परन्तु गांधी जी पहले नेता थे जिन्हों ने अहिंसा के शस्त्र से यह लड़ाई लड़ी। गांधी जी

की अहिंसा दुर्बलों की दुर्बलता न थी। वह तो एक अनुपम वीरता और आध्यात्मिक शक्ति थी जिसे देख कर संसार दंग रह गया।

गांधी जी ने व्यक्तिगत जीवन में भी अहिंसा को विशाल रूप दिया। भारत प्राचीन काल से आवश्यकताओं को कम करने के सिद्धान्त को एक ऊंचा सिद्धांत मानता रहा है। जीवन को इस प्रकार गुजारना कि दूसरों पर हमारा कम से कम बोझ पड़े, दूसरों को हमारे कारण कम से कम दुःख पहुँचे, भारत का प्राचीन आदर्श है। इसी आदर्श को गांधी जी ने जीवन में धारण किया। यह आदर्श अहिंसा का एक विशाल स्वरूप है। साधारणतया मांस न खाने ही को, पशु पक्षी को न मारने ही को अहिंसा समझ लिया जाता है। गांधी जी ने जीवन के प्रत्येक अंग में अहिंसा का प्रयोग करके, इस प्राचीन सिद्धांत का विशाल स्वरूप हमारे सामने रखा।

गांधी जी ने स्वदेशी के सिद्धान्त का विकास किया। स्वदेशी का भाव यह है कि मनुष्य अपने जीवन-निर्वाह के लिए उन्हीं वस्तुओं का प्रयोग करे जो प्रकृति ने उसके आस-पास उत्पन्न कर दी हैं। ऐसी चीजें एक तो जलवायु की दृष्टि से प्रयोग करने वाले की प्रकृति के अनुकूल होंगी और दूसरे चीजों को दूर २ तक लाने ले जाने में जो श्रम लगता है, उसकी बचत होगी। गांधी जी का यह सिद्धान्त एक सादा, सरल और प्राकृतिक जीवन की ओर ले जाने वाला है।

उद्योग धन्धे के सम्बन्ध में गांधी जी मनुष्य को स्वावलम्बी और स्वतन्त्र करना चाहते थे। वे नहीं चाहते थे कि बड़े २ कारखानों और मैशीनों के द्वारा जन-समुदाय किसी एक व्यक्ति या समूह के अधीन रहे। उन्होंने मैशीन के दास बने संसार को सावधान किया है। उनकी कल्पना का संसार एक ऐसा संसार है जिस में घरेलू धन्दों के द्वारा उत्पादन हो और मनुष्य प्रकृति की गोद में स्वच्छ, सरल और स्वतन्त्र जीवन गुज़ार सके। चर्खे को उन्होंने घरेलू दस्तकारियों का प्रतीक माना था।

गांधी जी सभी धर्मों को समान समझते थे। धर्म तो वास्तव में एक ही है और केवल देश, भाषा और व्यक्ति के भेद से उसके बहुत से रूप हो गये हैं, ऐसी उनकी धारणा थी। धर्म के सम्बन्ध में भारत ने प्राचीन काल से उस सिद्धान्त को माना है। परन्तु आधुनिक भारत में राजनीतिक तथा दूसरे कारणों से साम्प्रदायिक वैमनस्य ने एक घोर रूप धारण कर लिया था और यही वैमनस्य गांधी जी की मृत्यु का कारण हुआ।

गांधी जी जन्म से ऊँच-नीच के सिद्धांत को नहीं मानते थे। उनके लिए ऊँच-नीच तथा छोटे-बड़े की धारणा ही निर्मूल थी। जो मनुष्य, गुण कर्म स्वभाव से जिस काम के योग्य है, उसे ठीक ढङ्ग से करता हुआ वह किसी भी दूसरे से हीन तथा तुच्छ नहीं है। भारत की प्राचीन वर्ण-व्यवस्था का आधार यही था। परन्तु शताब्दियों से हिंदू जाति ने अस्पृश्य कहे जाते

वाले लोगों को पद-दलित किये रखा है। गांधी जी ने हमारे सामने वर्ण-धर्म का वही स्वच्छ स्वरूप रखा।

श्रीमद्भगवद्गीता तथा तुलसी-कृत-रामायण के प्रति गांधी जी की बहुत श्रद्धा थी। वे अपने आप को अध्ययन-शील नहीं मानते थे। यदि वे अपना अधिकार मानते थे तो इन्हीं दो पुस्तकों पर। प्रार्थना और उपासना को वे जीवन का प्राण मानते थे। नाम-स्मरण में उनकी अगाध श्रद्धा थी। ब्रह्मचर्य के प्राचीन भारतीय सिद्धांत पर उनकी गहरी आस्था थी। अनशन को वे न केवल स्वास्थ्य के लिये लाभदायक समझते थे, प्रत्युत इसकी आध्यात्मिक शक्ति को भी स्वीकार करते थे। व्रत-पालन उनके जीवन में श्वास-निश्वास के समान ओत-प्रोत था।

हमने यहाँ संक्षिप्त रूप में गांधी जी की विचार धारा को प्रस्तुत किया है। वास्तव में गांधी जी ने जीवन के प्रायः प्रत्येक अङ्ग पर मनन किया था और अपने विचार प्रकट किये थे। इतने थोड़े शब्दों में उनके विचारों की रूप-रेखा देना एक असम्भव कार्य है। केवल दिग्दर्शन करवाया गया है।

रचनात्मक कार्य

कई महापुरुष स्वयं तो किसी क्षेत्र में बड़ा कार्य कर जाते हैं परंतु दूसरों को उस कार्य के लिए प्रेरित करके अपने कार्य को संगठित और स्थायी नहीं कर सकते। गांधी जी में एक विशेष आकर्षण था जिस ने अच्छे २ व्यक्तियों को अपने चलाये कार्यों में लगने

के लिए प्रेरित किया। जहां उनका अपना जीवन अनुशासन में जकड़ा था और जहां वे अपने साथियों से अनुशासन तथा नियंत्रण की आशा रखते थे वहां उनके हृदय में अपने साथियों और सम्पर्क में आनेवालों के प्रति प्रेम, वात्सल्य और सहानुभूति के भाव ठाठें मार रहे थे। जो शुद्ध हृदय से उन के पास आया, उनका हो गया। उन्हें आदमी की पहचान थी। उनके साथ काम करने वाले उन्हें बापू कहते थे और शनैः २ देश भर ने उन्हें बापू कहना आरम्भ किया।

इस व्यक्तिगत आकर्षण की शक्ति से गांधी जी ने कार्य कर्ताओं को अपने इर्द-गिर्द इकट्ठा किया और अपनी जांच परख से जो जिस कार्य के योग्य था, उस को उस में लगा दिया। इस प्रकार उनका रचनात्मक कार्य-क्रम संगठित रूप से चलने लगा और नियमित रूप से चल रहा है।

उनके रचनात्मक कार्य की सब से बड़ी संस्था चर्खा-संघ है जिस का उद्देश्य हाथ की कताई बुनाई के प्रचार से देश को वस्त्रस्वावलम्बी बनाना है। अन्य उद्योग-धंदों की उन्नति के लिए ग्रामोद्योग संघ है। हरिजनों की समस्या को सुलझाने के लिए हरिजन-सेवक-संघ काम कर रहा है। देश के गोधन की वृद्धि के लिए गो-सेवा-संघ है। ऐसे ही राष्ट्र-भाषा-प्रचार-संघ है तथा तालीमी संघ है। स्त्रियों और बच्चों के लिए कार्य करने का विशेष भार कस्तूरबा गांधी राष्ट्रीय स्मारक निधि पर है। अब गांधी-स्मारक-निधि की ओर से भी कार्य आरम्भ होने वाला है। इन

सब संस्थाओं का ध्येय यही है कि गांधी जी के आदर्श के समाज का विकास किया जाए ताकि भारत तथा संसार में सुख और शांति की समृद्धि हो। इन सारे कामों के मार्ग दर्शन के लिए सर्व-सेवा-संघ है। गांधी जी के विचारों के स्त्री पुरुषों के परस्पर सम्पर्क के लिए एक वार्षिक सम्मेलन करना आरम्भ किया गया है। इन में से बहुत से संघों के केंद्रीय कार्यालय वर्धा तथा सेवाग्राम में हैं।

गांधी जी ने स्वयं भी बहुत लिखा और उनके संबंध में दूसरों ने भी बहुत कुछ लिखा। गांधी साहित्य स्वयं एक विशाल साहित्य-भंडार है। उनकी लिखी आत्म-कथा एक अध्ययन-योग्य पुस्तक है। श्रीमद्भगवद्गीता का उनका किया अनुवाद बहुत सरल, संक्षिप्त और विशद है। उनके विचारों तथा कार्यक्रम के प्रचारक पत्र साप्ताहिक 'हरिजन' और मासिक 'सर्वोदय' निकल रहे हैं।

श्रीमती सरोजनी नायडू

सरोजिनी का जन्म १३ फ़र्वरी, १८७९ को दक्षिण-भारत के हैदराबाद नगर में हुआ। उन के पिता श्री अघोरनाथ चट्टोपाध्याय पूर्वीय बङ्गाल के एक ब्राह्मण वंश में उत्पन्न हुए थे। उन्होंने १८७७ में ऐडनबरा से डाक्टर ऑफ साइंस की उपाधि ली और तत्पश्चात् कुछ देर तक जर्मनी में विद्याध्ययन करके वे भारत लौटे। उन्होंने हैदराबाद में निज़ाम कालिज की स्थापना की। अघोरनाथ चट्टोपाध्याय सरस्वती देवी के अनन्य उपासक थे। उनका सारा समय विद्या-विलास तथा अध्ययनाध्यापन ही में व्यतीत होता था। उनके हां बहुत से विद्या-विलासी जनों का आना-जाना रहता था। वे आने वालों का हार्दिक स्वागत करते थे और हर प्रकार से उनकी सहायता करते थे। परोपकार और विज्ञान ही उनके दो व्यसन थे। यद्यपि उनकी शिक्षा विज्ञान की थी तथापि उन्हें कवि का हृदय मिला था। परन्तु सरोजिनी को काव्य-प्रतिभा पिता की अपेक्षा अधिक-माता से मिली थी। माता वरदासुन्दरी वास्तव में कवि थीं। अपनी युवावस्था में उन्होंने बङ्गाल में बहुत सी उच्च कोटी की कविताओं की रचना की थी।

सरोजिनी माता-पिता की सब से बड़ी संतान थी। उनकी शिक्षा का आरम्भ, उस समय के सुशिक्षित वर्ग की रीति से

अनुसार अंग्रेजी से किया गया। ६ बरस की आयु में एक बार उन्हें अंग्रेजी में सम्भाषण न कर सकने पर दंड मिला था। पिता सरोजिनी को गणित-शास्त्र तथा विज्ञान की विदुषी बनाना चाहते थे परन्तु बेटी को ये विषय शुष्क जान पड़ते थे। कल्पनाशील प्रकृति की उस कन्या ने तो आगे चल कर कवि बनना था। आप ने अपने एक पत्र में लिखा है—"एक दिन जब कि मेरी आयु ११ बरस की थी, मैं बीज-गणित के एक प्रश्न पर बैठी खीझ रही थी। प्रश्न ठीक निकलता नहीं था। उसके बदले एक पूरी कविता मेरे मन में आ गई और मैंने उसे लिख डाला।" १२ बरस की आयु में सरोजिनी ने मद्रास विश्वविद्यालय से एंट्रैंस की परीक्षा पास कर ली। उन दिनों तो किसी कन्या का एंट्रैंस पास करना ही एक आश्चर्यजनक बात थी और फिर इतनी छोटी आयु में! सरोजिनी का स्वास्थ्य अच्छा नहीं रहता था परन्तु उन्हें कविता-अध्ययन और काव्य-रचना की धुन लगी रहती थी। १३ बरस की आयु में उन्होंने १३०० पंक्तियों की एक लम्बी अंग्रेजी की कविता छः दिन में लिख डाली। उन दिनों सरोजिनी का स्वास्थ्य ऐसा था कि डाक्टर ने उन्हें पुस्तक को छूने तक से वर्जित कर दिया था। डाक्टर की आज्ञा की पूरे रूप से अवहेलना करने मात्र के भाव से सरोजिनी ने २००० पंक्तियों का एक काव्य-नाटक लिख डाला। १४ से १८ बरस की आयु तक सरोजिनी ने बहुत अध्ययन किया। इसी समय उन्होंने एक उपन्यास भी लिखा।

१८९५ ई० में सरोजिनी निज़ाम की ओर से एक विशेष छात्रवृत्ति पाकर विलायत पढ़ने के लिए गई। परन्तु वहां भी उन का स्वास्थ्य अच्छा न रहा और वे १८९८ में भारत में लौट आई। इंग्लैंड में सरोजिनी ने अपने समय का बहुत सदुपयोग किया। विद्या-लाभ के अतिरिक्त उन्होंने उस समय के अंग्रेज़ी साहित्य-सेवियों से परिचय बढ़ाया। मिस्टर आर्थर साइमन और सर एडमंड गास उनके विशेष परिचित साहित्यकों में से थे। उन्हीं दिनों सरोजिनी ने इटली की यात्रा भी की और इनके हृदय पर उस देश का विशेष प्रभाव पड़ा।

सरोजिनी नायडू के जीवन में तीन धाराएँ स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती हैं—कविता, सामाजिक कार्य तथा राजनीतिक कार्य। तीनों क्षेत्रों में उनका विशेष स्थान है

कविता

सरोजिनी को अंग्रेज़ी भाषा में कविता लिखने का अभ्यास बाल्यकाल ही से था। १८९५ में जब वे इंग्लैंड गईं तो उनकी आयु केवल १६ बरस की थी परंतु तब तक वे बहुत सी कविताएं लिख चुकी थीं। इंग्लैंड में उनका परिचय प्रसिद्ध साहित्य-मर्मज्ञ सर एडमंड गास से हो गया। एडमंड गास ने यह जान कर कि सरोजिनी को अंग्रेज़ी में कविता लिखने की रुचि है, उन्हें अपनी कविताएँ दिखाने को कहा। सरोजिनी ने अपनी कविताओं का बंडल दे दिया और उस अनुभवी विद्वान् ने एकांत में उन कविताओं का अध्ययन और मनन किया। उन्हें वे

कविताएँ कृत्रिम और निर्जीव जान पड़ीं। उन पर उन कवि-ताओं का जो प्रभाव पड़ा उसको उन्होंने पश्चात् सरोजिनी की एक पुस्तक की भूमिका में इस प्रकार लिखा है' "श्रीमती सरोजिनी ने जो पद्य मुझे दिये वे पिंगल, व्याकरण तथा भावों की दृष्टि से दोष-रहित थे, परन्तु उन में बड़ी भारी कमी यह थी कि वे नितांत कृत्रिम थे। भावों तथा कल्पना की दृष्टि से वे पाश्चात्य रङ्ग में रंगे थे। उन में टैनीसन और शैली के रङ्गों का आभास होता था। यदि मैं भूल नहीं करता तो उनमें ईसाई मत का सा त्याग भी झलकता था। मैं ने विषादपूर्वक उन्हें उठा कर अलग रख दिया। यह तो अनुकरण करने वाले पक्षी की वाणी थी।" सर एडमंड गास ने काव्य-रचना के सम्बन्ध में सरोजिनी को जो सम्मति दी उस का तात्पर्य निम्नलिखित है—

"झूठे अंग्रेजी भावों में डूबी हुई अपनी सब रचनाओं को रद्दी की टोकरी में डाल दो। एक विचारशील भारतीय युवती से, जिसने हमारी भाषा ही नहीं हमारे पिंगल का भी ज्ञान प्राप्त कर लिया है, हम पाश्चात्य भावों तथा कल्पनाओं की आशा नहीं करते। हम उससे प्राच्यभावों और कल्पनाओं का परिचय प्राप्त करना चाहते हैं, धर्म का उन प्राचीन मंतव्यों का दिग्दर्शन करना चाहते हैं, जिन का प्राच्य देशों में उसी समय अनुभव हो चुका था जब पाश्चात्यों को अपनी स्थिति ही का ज्ञान नहीं था। तुम अपनी कविता में अंग्रेजी पक्षियों का वर्णन करना छोड़ दो। इसी प्रकार हमारे फूलों, फलों, वृक्षों

तथा दृश्यों और भू-देशों के वर्णन का भी सदा के लिए परित्याग कर दो; हमारे गिरजाघरों के घंटों को भूल जाओ। अपने देश और अपने प्रांत की नदियों, पर्वतों, मंदिरों, उद्यानों, वनस्पतियों तथा निवासियों का वर्णन करो—इन के सहज तथा प्राकृतिक भावों को व्यक्त करो। सारांश यह कि भारतीयता धारण करो, पाश्चात्य कवियों की अनुकृति करने की चेष्टा में अपने व्यक्तित्व का नाश न कर डालो।"

क्या ही अच्छी सम्मति है जो पाश्चात्य रङ्ग में रङ्गे आज के युवक युवतियों के लिए भी शिक्षाप्रद है। सरोजिनी को यह बात लग गई। उन्होंने ध्यानपूर्वक उस वृद्ध साहित्य-सेवी की बात को सुना और स्वीकृत कर लिया। स्वयं सर एडमंड गास ने लिखा है कि "तत्पश्चात् श्रीमती सरोजिनी ने कोई ऐसी रचना नहीं की जिस में उनकी भारतीयता स्पष्ट न झलकती हो।" हम उस अंग्रेज साहित्य-सेवी के कितने आभारी हैं कि उन्होंने कृत्रिम मार्ग पर जा रही सरोजिनी की प्रतिभा को परिवर्तन के लिये प्रेरित करके भारत को एक वास्तविक कवि प्रदान किया।

सरोजिनी नायडू की कविता यद्यपि अंग्रेजी भाषा में हुई तथापि भाव तथा कल्पनायें उसमें सब भारतीय हैं। सर ऐडमंड गास की सम्मति को उन्होंने अक्षरशः ग्रहण किया। उन की कविताओं के बारे में किसी प्रसिद्ध पत्र ने लिखा था, "इन कविताओं ने एक ऐसा नया द्वार खोल दिया जिससे, यदि पाश्चात्य लोग चाहें, तो पूर्व का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं।" रंग भारतीय

होते हुए भी किसी प्रकार की संकीर्णता नहीं आ पाई है। विश्व-प्रेम की भावना ही कविताओं का आधार है। १९१५ की कांग्रेस में सरोजिनी ने एक कविता 'भारत माता की वंदना' पढ़ी थी। उसकी कुछ पंक्तियों का भाव उनकी विशाल भावना के उदाहरण के रूपमें यहाँ दिया जाता है—

हिंदू—"माता, हमारी अर्चना के पुष्प तेरे सिर के किरीट बनेंगे।,'

पारसी—"माता, हमारी आशा की ज्योति तेरा आवरण बनेगी।',

मुसलमान—"हमारी प्रेमरूपी तलवारें तेरी रक्षा करेंगी।"

ईसाई—"माता, हमारे धर्म का संगीत तेरी सेवा में रहेगा।"

सभी धर्मावलम्बी—"क्या हमारी उत्कट भक्ति द्वारा तेरा कल्याण न हो सकेगा? हे सम्राज्ञी, हे देवि, सुनो हम तुम्हारी वंदना करते हैं।"

यद्यपि सरोजिनी का जन्म उच्च कुल में हुआ, वे धन की गोदी में पलीं और सम्पन्न घर में विवाहित हुईं तथापि उनके अंतःकरण में प्राणिमात्र के लिए सहानुभूति तथा संवेदना का भाव था और वे निम्न वर्ग की जनता के भावों को भली भांति अंकित कर सकी थीं।

सरोजिनी नायडू को भारत के भविष्य पर दृढ़ विश्वास था। अपने हृदय के अंतरतम में वे अनुभव करती थीं कि वर्त्त-

मान काल में भारत की जो भी अवनत दशा है, भविष्य में एक दिन यह देश उन्नत होकर संसार को अपना प्राचीन सन्देश सुनाएगा, जिस सन्देश के बिना अशांति और त्रास संसार से दूर न होंगे। अपनी 'भारत माता के प्रति' शीर्षक कविता में आपने लिखा है—

"अंधकार से ग्रस्त, रुदन करती हुई जातियां तेरे नेतृत्व की प्रतीक्षा कर रही हैं......मां, हे माँ तू सो क्यों रही है......तेरी प्रतिष्ठा करने के लिए तेरा भविष्य तेरा आह्वान कर रहा है।"

अंग्रेजी भाषा पर आप को जो अधिकार प्राप्त था उसके बारे में सर एडमंड गास ने लिखा है, "वास्तव में मैं यह विश्वास करने के लिए अप्रस्तुत नहीं हूँ कि आज तक जितने हिंदुस्तानियों ने अंग्रेजी में रचनायें की हैं उनमें से सरोजिनी की रचनायें सब से चमत्कारक, सबसे मौलिक तथा सबसे शुद्ध होती हैं।"

यहां उनकी कविता में से कुछ उद्धरणों के अनुवाद देना अनुचित न होगा, परन्तु यह स्मरण रहे कि कविता के अनुवाद में और फिर गद्यानुवाद में वह मौलिक कविता का रस नहीं हो सकता:—

"हे मेरे जीवन के दीपक, काल के होठों ने तुझे अकस्मात् अपने श्वास से बुझा दिया है। कुछ भी हो, अब तेरी विगत ज्योति पुनरुज्जीवित नहीं हो सकती.. हे प्रिय, क्या जीवित अंधकार ही सदा के लिए मेरा आवास होगा?

"हे मेरे जीवन-तरु, काल के निर्दयी पैरों ने तेरे मूल को

रौंद डाला है। कोई भी वस्तु अब तुझे तेरा अतीत गौरव प्रदान नहीं कर सकती......वृक्ष के शुष्क हो जाने पर, उस के पल्लव कहीं जीवित रह सकते हैं ?"

'सती' शीर्षक कविता से।

"हे यौवन, प्रिय संगी यौवन, क्या तू चला जाएगा ? तू और मैं, दीर्घ काल तक एक ही साथ रहे हैं। एक ही साथ देश-देशांतरों में उषा का पान किया और एक ही साथ आकाश के नीचे फल चुने हैं !

"हे चपल मित्र ! कल तक तो मैं भविष्य के अविछिन्न आह्लाद का स्वप्न देखा करती थी.........। तू जो चला जाएगा, तो आज से मैं क्या अतीत काल ही के भंगुर सुखों का स्वप्न देखूंगी ?

'यौवन के प्रति' शीर्षक कविता से।

"हे मेरे हृदय, हमें शीघ्र ही उठना होगा, और संसार-युद्ध तथा जन-समूह के कोलाहल में सम्मिलित होना होगा...... हे मेरे हृदय, आ, हम उठें और अपने बचे हुए स्वप्नों को एकत्र करें। हम जीवन की वेदना पर संगीत की वेदना से विजय प्राप्त करेंगे।

'वन में' शीर्षक कविता से।

समाज-सुधार सम्बन्धी विचार

श्रीमती सरोजिनी नायडू का समाज-सुधार सम्बन्धी कार्य जीवन के प्रातःकाल ही में आरम्भ हो गया था। वे केवल

समाज-सुधार पर भाषण देना ही नहीं जानती थीं प्रत्युत विचारों को जीवन में कार्यान्वित करके उदाहरण भी प्रस्तुत कर सकती थीं। समाज में प्रचलित जन्म की जातपात और ऊंच-नीच को वे देश के लिए हानिकारक समझती थीं। अस्पृश्य जातियों की दुर्दशा देख कर उनका हृदय रोता था। स्त्री जाति की अज्ञानता तथा विद्या-विहीनता उन्हें समाज के लिए घातक जान पड़ती थी। स्त्री जाति की शिक्षा के लिए तो उन्हों ने १६०६ ई० ही से कार्य करना आरम्भ कर दिया था। हिंदू-मुस्लिम एकता उन का एक प्रिय विषय था। नवयुवक तथा नवयुवतियों को मिलकर और उन्हें कर्तव्य-पथ पर प्रेरित करके उन्हें विशेष प्रसन्नता होती थी।

अपने सार्वजनिक जीवन में आप को सारे भारतवर्ष तथा संसार के दूसरे देशों में भी बहुत भ्रमण करने का अवसर मिला। जहां भी आप गई आपने समाज-सुधार सम्बंधी अपने विचारों को अपनी मधुर तथा कलापूर्ण भाषा में प्रस्तुत करने का अवसर नहीं खोया। आप की वाणी में ओज था, आकर्षण था और प्रेरणा-शक्ति थी। परमात्मा ने आप को वाणी की जो शक्ति प्रदान की थी, आप ने उसका पूरा उपयोग किया और सदुपयोग किया।

गांधी जी के सार्वजनिक क्षेत्र में आने पर देश के समाज-सुधार सम्बन्धी कार्य में एक नई स्फूर्ति उत्पन्न हो गई और गांधी जी के सम्पर्क में आकर श्रीमती सरोजिनी नायडू की समाज-सुधार-भावना को बहुत उत्तेजना मिली। गांधी जी ने राष्ट्रीय

निर्माण का जो कार्यक्रम देश के सामने रखा उसे दूसरे कई उच्च कोटि के नेताओं के समान सरोजिनी नायडू ने भी शिरोधार्य किया।

अब हम यहां श्रीमती जी के स्थान २ पर दिये गए अनेक भाषणों में से कुछ उद्धरण प्रस्तुत करते हैं जिन से आप के समाज-सुधार सम्बन्धी विचारों का परिचय प्राप्त होता है।

१६२३ ई० में बम्बई में सवर्णों तथा हरिजनों के सहभोज पर आप ने एक बड़ी उत्साहपूर्ण वक्तृता दी थी। आप ने कहा था—

"यह बड़े सौभाग्य की बात है कि भिन्न २ राजनीतिक दलों के नेता इस महान् कार्य में सम्मिलित हैं। यह कार्य दल-विशेष का नहीं, सम्पूर्ण समाज का है। भारत के लिये यह बड़ी लांछन की बात है कि उसकी सन्तानों का बड़ा भाग पतित अथवा अस्पृश्य समझा जाए। बिना उन्हें साथ लिए हम अपने राजनीतिक मंतव्यों में कदापि सफल नहीं हो सकते।"

सरोजिनी नायडू का समाज-सुधार-सेवा-भाव से प्रेरित था, किसी पर परोपकार जताने के लिये नहीं। अपने इस उच्चादर्श को उन्होंने एक व्याख्यान में ऐसे वर्णन किया था—

"दानशीलता के भाव से प्रेरित होकर ग़रीबों की सहायता करना उनका अपमान करना है, जो उनके लिए मृत्यु से भी बुरा है। कारण, धनियों को धन का अभिमान है और रूपवानों को अपने सौंदर्य का। कवियों के पास उनकी प्रतिभा है, परन्तु

ग़रीबों के पास केवल एक मान है। यदि समाज-सेवा करना चाहते हो तो विनय भाव से करो। इसी से तुम्हारी सेवा को दीन, दुःखी और मरते हुए लोग स्वीकार करेंगे। इसी के कारण ग़रीब तुम्हारे हाथों से वह जल ग्रहण करेंगे, जिससे उनके प्राणों की रक्षा की संभावना है।"

भारत की स्त्री-जाति के जागरण तथा उत्थान-कार्य में सरोजिनी नायडू का विशेष हाथ था। स्वयं स्त्री होने के कारण वे स्त्रियों के कष्टों और समस्यओं को बहुत अच्छी तरह समझती थीं। देश के सभी भागों का भ्रमण करने के कारण उन्हें सभी प्रांतों की स्त्रियों के सम्पर्क में आने के अवसर मिलते थे, और जहां उनका सम्पर्क होता था वहीं जागृति का उद्भव हो जाता था। परदा-प्रथा के बारे में उन्हों ने कहा था—

"इस पुरानी सामाजिक प्रथा की बुराई-भलाई की विवेचना किये बिना ही मैं विश्वास-पूर्वक कह सकती हूँ कि परदे की प्रथा अन्य पुरानी प्रथाओं की भांति उठ रही है। हमारी जातीय जागृति की आवश्यकताओं के सम्मुख यह अधिक काल तक अक्षुण्ण नहीं रह सकती।"

सरोजिनी का स्त्री-शिक्षा-सम्बन्धी प्रयास बहुत स्तुत्य है। उनकी सर्वप्रथम सार्वजनिक वक्तृता, जो १९०६ ई० में हैदराबाद में हुई, इसी विषय पर थी। दिसम्बर १९०६ ई० में उन्होंने कलकत्ते में भारतीय-जातीय-सामाजिक-सम्मेलन में स्त्री-शिक्षा पर एक ओजस्विनी वक्तृता देते हुए कहा था—

"यह मुझे एक विचित्र बात मालूम होती है, और इस विचित्रता में कौतूहल और दुख दोनों सम्मिलित हैं—कि आज बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में, भारतवर्ष में, हम सभी जगह अपनी सार्वजनिक सभाओं में स्त्री-शिक्षा-संबन्धी प्रस्ताव उपस्थित कर रहे हैं। यह वही भारतवर्ष है जो पहली शताब्दी के आरम्भ में भी पूर्ण सभ्य था और संसार को उन उज्ज्वल स्त्री-रत्नों को आदर्श स्वरूप अर्पण कर चुका था, जो बुद्धि और विद्या दोनों ही के ऊंचे शिखर पर पहुँची हुई थीं। परन्तु काल की कुटिल गति के कारण इस वैचित्र्य का सामना करना पड़ता है। अब समय आ गया है कि हम इस बात पर विचार करें कि यह आपत्ति हम लोगों के ऊपर से कैसे दूर हो सकती है, और किस प्रकार हम ऐसा उद्योग कर सकते हैं जिससे हमारी सफलता स्त्री-शिक्षा के सम्बन्ध में व्यर्थ प्रस्तावों के पास करने तक ही न रह जाए इस महत्वपूर्ण काल में जब कि सभी और कठिनाइयां हैं और सभी ओर लोग उद्योग कर रहे हैं तथा भारत की सभी जातियां एक सर्वोच्च राष्ट्रीय आदर्श की एकता के लिए प्रयत्न कर रही हैं, यही विचारना चाहिए कि सभी प्रवाहों की सफलता उस प्रश्न पर निर्भर है, जिसे लोग स्त्रियों का प्रश्न कहते हैं। राष्ट्रीयता का निर्माण आप लोगों के हाथों में नहीं, हम लोगों के हाथों में है।"

सरोजिनी भली प्रकार समझती थीं कि हमारे देश का पुनरुत्थान देश के युवक युवतियों पर निर्भर है। विद्यार्थियों से

मिल कर उन्हें विशेष प्रसन्नता होती थी। विद्यार्थियों की एक सभा में उन्होंने कहा था—

"यदि मुझ से कहा जाय कि भाषा के संपूर्ण भंडार में से तुम एक ऐसा वाक्य चुन कर कहो, जो तुम्हारे अन्तरतम हृदय में भविष्याशा रूप निगूढ़ हो, और उसके बाद चुप हो जाओ, तो मैं वह वाक्य यही कहूँगी—

"तुम्हीं भविष्य की आशा हो।"

ऐसे ही अहमदाबाद में एक छात्र-सम्मेलन में सभानेत्री के पद से आपने कहा था—

"मैं अपने जीवन में सर्वोच्च महिमा तथा सिद्धि इसी में समझूँगी कि मेरी समाधि के शिलालेख पर ये शब्द अंकित किए जाएँ—भारत की नई पीढ़ी से इसे प्रेम था, उसी पर इसको विश्वास था, उसी के साथ इसने काम किया, और उसी के सहयोग से इसने भारत की स्वतंत्रता प्राप्त की।"

मद्रास में दिये गए एक भाषण में आपने छात्रों को देश की यशोवृद्धि के लिए अपने कर्तव्य-पथ पर दृढ़ रहने को ये शब्द कहे थे—

"तुमने महान् आदर्शों को पूर्वजों से थाती में पाया है। तुम पर बड़े २ कर्त्तव्यों का भार है। तुम्हारा बहुत बड़ा उत्तरदायित्व है। इससे प्रयोजन नहीं कि तुम कहां हो, कौन हो और क्या काम करते हो। गली में झाड़ू देने वाला भी देशभक्त हो सकता है। उसमें भी तुम एक ऐसा उत्तेजक भाव पा सकते हो.

जिससे तुम्हारे मन को उच्च प्रेरणा प्राप्त हो सके। तुम चाहे जैसे दीन और अकिंचन हो, जो भार तुम्हारे ऊपर है, उसे टाल नहीं सकते। यह भार तुम्हारे ही सहन करने का है। अतएव तुम में से हर एक इसके लिए बाध्य है कि वह अपना जीवन देश-सेवा में लगाए।

राजनीति के क्षेत्र में

सरोजिनी नायडू ने १९१५ ई० से राजनीति में भाग लेना आरम्भ किया। उस बरस की बम्बई कांग्रेस में उन्होंने स्वराज्य के प्रस्ताव का समर्थन किया। अगले कई बरसों के कांग्रेस-अधिवेशनों में भी वे इस तथा दूसरे विषयों पर बोलती रहीं। शनै शनै उनका राजनीतिक कार्य बढ़ता गया। साहित्य के क्षेत्र को छोड़कर राजनीति के क्षेत्र में व्याख्या देते हुए कहा था—

"मुझसे लोग बार बार पूछते हैं कि तुम कल्पना के हाथी-दांत के गुंबद से उतर कर बाज़ार में क्यों आ गई हो ? तुमने कवि की वीणा और वंशी का परित्याग करके देश को स्वातंत्र्य-युद्ध के लिए उत्तेजित करने वाला बिगुल क्यों धारण कर लिया है ?" इसीलिए कि कवि का कर्त्तव्य ध्यान में, स्वप्न के मंदिर में एकांत निवास करना नहीं है, उसे जनता के साथ रहना चाहिए, युद्ध की कठिनाइयों के बीच में रहना चाहिए।

१९१९ ई० में सरोजिनी नायडू भारत-वासियों की ओर

से डैप्यूटेशन के साथ इङ्गलैंड गयीं। प्रथम योरुपीय महायुद्ध के समय अंग्रेज़ी सरकार हिंदुस्तान को आश्वासन देती रही थी कि युद्ध के समाप्त होने पर इस देश की राजनीतिक आकांक्षाओं को पूर्ण किया जायगा। परन्तु युद्ध के समाप्त होते ही सरकार की आंखें बदल गयीं। महात्मा गांधी तक युद्ध में सरकार की सहायता के लिए कार्य करते रहे, परंतु युद्ध की समाप्ति के पश्चात् देश के सम्मुख निराशा ही निराशा दिखाई दी। देश की आवाज़ को निरुद्ध करने के लिए सरकार ने दमनचक्र चला दिया था। युद्ध-समय की राज-भक्ति का पुरस्कार राजनीतिक सुधारों के स्थान पर 'रोलट-एक्ट' मिला था। जब जलियांवाला बाग़ का हत्याकांड हुआ तो सरोजिनी नायडू विलायत ही में थीं। इस आघात से प्रभावित होकर और इङ्गलैंड के सरकारी अधिकारियों की भारत के प्रति उदासीनता देखकर, उन्होंने भविष्य में अपना सारा समय राजनीतिक कार्य ही के लिए देने का निश्चय किया।

जिन दिनों वे विलायत से भारत लौटीं उन दिनों भारत में सब ओर गांधीजी के असहयोग की धूम थी। उन्होंने आते ही घोषित किया कि उनका कार्य गांधी जी के संदेश को देश में प्रचारित करना है और यही काम वे करती भी रहीं। असहयोग के कार्यक्रम के अनुसार उन्होंने अपना कैसरे-हिंद पदक जो सरकार की ओर से उन्हें मिला हुआ था, सरकार को लौटाते हुए, साथ यह पत्र लिखा—

"कई वर्षों से एक असहाय जाति अनेकों प्रकार से

अपमानित हो रही है, उसका घोर दमन हो रहा है, उसके प्रति जो प्रतिज्ञाएँ की गई थीं, वे भंग की जा रही हैं। इन बातों के अतिरिक्त दो बड़े पाप हुए हैं—एक तो मुसलमानों को दी हुई प्रतिज्ञा का अनादर और दूसरे पञ्जाब का हत्याकांड। यह मेरे सम्मान और मानुषिक विचारों के प्रतिकूल है कि मैं इन अत्याचारों को देख कर भी चुप रह सकूं और उस सरकार से जिसने कि न्याय का तिरस्कार किया है, सहमत हो सकूं।"

मार्च १९२२ ई० में जब गांधी जी पर विद्रोह का अभियोग चला और उन्हें कारावास का दण्ड मिला तब सरोजिनी नायडू वहीं उपस्थित थीं। उन्होंने सारी कार्यवाही का बड़ा मर्मस्पर्शी वर्णन किया है। गांधी जी के बन्दी हो जाने पर उन्होंने आन्दोलन को जारी रखने का प्रण किया। तत्पश्चात् जब कांग्रेस में कौंसिल-प्रवेश के सम्बन्ध में मतभेद हुआ तो सरोजिनी नायडू कौंसिल-बहिष्कार पर से प्रतिबन्ध उठाने के विरुद्ध थीं।

१९२४ ई० में वे पूर्वीय अफ्रीका की होने वाली भारतीय कांग्रेस की सभानेत्री चुनी गईं। मुम्बासा में उन्होंने कांग्रेस-अधिवेशन में प्रभावशाली व्याख्यान दिया।

पूर्वीय तथा दक्षिणीय अफ्रीका के भ्रमण में श्रीमती जी वहां बड़े २ पदाधिकारियों से मिलीं और अपने उस देश के वासी भारतीयों की समस्याओं को सुलझाने के सम्बन्ध में बात-चीत की। आपके व्याख्यानों में सदा बड़े २ गण्यमान्य व्यक्ति सभा-

पति होना अपना गौरव समझते थे। आपके उस भ्रमण से उस देश के भारतीयों के उत्साह बढ़ गये और उस देश के उच्च पदाधिकारियों के हृदयों में कुछ परिवर्तन हुआ। जुलाई १६२४ ई० में आप उस देश से भारत लौट आईं।

१६२० ई० की बेलगाँव-कांग्रेस में प्रवासी भारतीयों के संबंध का प्रस्ताव आप ही ने प्रस्तुत किया। १६२५ ई० के कांग्रेस के कानपुर-अधिवेशन की सभानेत्री आप ही निर्वाचित हुईं और आपने बड़े सुचारुरूप से अधिवेशन के कार्य का संचालन किया। अपने इस काल में आपने देश में परिभ्रमण करके जनता में जागृति उत्पन्न कर दी।

गांधी जी के नमक-सत्याग्रह में आपने बढ़-चढ़ कर भाग लिया। गांधी जी के बंदी होने के पश्चात् आप सत्याग्रह-संग्राम की संचालिका नियुक्त हुईं। २३ मई, १६३० ई० को आपको बंदी किया गया, परन्तु २६ जनवरी, १६३१ ई० को गांधी-इर्विन समझौते के अनुसार आपको छोड़ दिया गया। १६३१ ई० में आप गोलमेज-सम्मेलन पर विलायत गईं। १६३२ ई० में आपको सविनय-आज्ञा-भंग आंदोलन में भाग लेने पर बंदी कर लिया गया और एक वर्ष कारावास का दण्ड मिला। मुक्त होने पर आपको सरकार की ओर से दक्षिण अफ्रीका भेजे गये शिष्ट-मंडल की सदस्या बना कर भेजा गया।

१६४० ई० में जब गांधी जी ने व्यक्तिगत सत्याग्रह का आंदोलन आरम्भ किया तो श्रीमती जी को बंदी कर लिया गया।

१६४२ ई० में 'भारत छोड़ो' प्रस्ताव के स्वीकृत किये जाने पर कांग्रेस के अन्य नेताओं के समान आपको भी बंदी कर लिया गया था और दीर्घ काल तक कारावास में रखा गया।

अगस्त १६४७ ई० में भारत के स्वतंत्र हो जाने पर आपको संयुक्तप्रांत के गवर्नर-पद पर नियुक्त किया गया। उसी उच्च पद पर आरूढ़ रहते हुए १ मार्च, १६४६ ई० को प्रातःकाल ३–३० बजे सहसा हृद्रोग से आपकी मृत्यु हो गई।

भारत-कोकिला श्रीमती सरोजिनी नायडू की आकस्मिक मृत्यु का समाचार सारे भारत में आन की आन में फैल गया और सारा राष्ट्र शोक-सागर में निमग्न हो गया। ऐसी दिव्य विभूति अलग हो जाने पर शोक तो स्वाभाविक था परन्तु इतना संतोष था कि आपने अपने प्रिय भारत को स्वतन्त्र देखकर प्राण छोड़े हैं और आपको भारतीय रमणी की आकांक्षित सोहाग की मृत्यु प्राप्त हुई है। आपका शरीर नहीं रहा परन्तु आप अपने सेवा-कार्य और अपनी साहित्य-रचना के रूप में जीवित हैं और सदा जीवित रहेंगी।